कलक्टर प्रधान ने विचार व्यक्त किए।

छात्राओं की जान

लक की लापरवाही से मंगलवार को रिक्शे न बच गई। कस्तूरबा इंटर कॉलेज की तीन र जा रही थी। कचहरी की ओर से आ रही रिक्शे को धक्का मार दिया। छात्राएं सड़क होता तो तीनों लड़कियों की जान पर बन चालक को घेर लिया। छात्राएं वहां से चली को मुआवजा देने की मांग करने लगे। मौके र मामला शांत कराया।

को संविदा

मुख्यालय पर

निगम में डेढ़ दशक से भी अधिक समय से कार्यरत हैं। सेवामुक्त किए जाने से उनके परिवार भुखमरी के शिकार होंगे।

धरना व प्रदर्शन में संयोजक योगेंद्र तिवारी, उप संयोजक रवींद्र शंकर सिंह, दिनेश दुबे, राजीव, शिव कुमार, सुनील, राकेश, अफरोज खां, अब्दुल हसन, अभय चौबे, लक्ष्मी नारायण, राकेश मौर्य आदि शामिल थे।

सीएम से मिलेंगे प्रधान

वाराणसी : जिला ग्राम प्रधान संघ की मंगलवार को सारनाथ स्थित धर्म चक्र विहार परिसर में हुई बैठक में मानदेय, दुर्घटना बीमा, मनरेगा सामग्रियों में विसंगति का मुद्दा उठाया गया। इन मुद्दों को लेकर 21 अगस्त को लखनऊ में मुख्यमंत्री अखिलेश यादव से मिलने के लिए संघ का प्रतिनिधिमंडल जाएगा। बैठक में जिलाध्यक्ष संजय

URL : http://uptu.ac.

Performance of Institutions

Theo

VIBGYOR- Cumulative P

V-

S.No.	College Code	
1	027	AJAY KUMAR GARG EN
2	029	KRISHNA INSTITUTE OF
3	104	KAMLA NEHRU INSTITU

S.No.	College Code	
1	052	INSTITUTE OF ENGINE
2	043	BUNDELKHAND INSTIT
3	042	M.M.M. ENGINEERING
4	044	UTTAR PRADESH TEXT
5	014	SHRI RAM MURTI SMA
6	122	SHRI RAMSWAROOP M
7	**254**	**BHABHA INSTITUT**
8	068	MEERUT INSTITUTE OF
9	229	VIDYA COLLEGE OF EN
10	164	PRANVEER SINGH INST
11	143	IMS ENGINEERING CO
12	063	G.L.A. INSTITUTE OF TE
13	[illegible]	RAJ KUMAR GOEL INS
14	165	KANPUR INSTITUTE O
15	290	ABES INSTITUTE OF TE
16	032	ABES ENGINEERING C
17	091	J.S.S. [illegible] OF TE

...रती प्रकाशन, वाराणसी–२२१००१

...न् १९८४ ई०

...नम्

...पुस्तकालय

HARJIVANDAS SANSKRIT GRANTHAMALA

23

*****

SIDDHĀNTA-KAUMUDĪ

VAIDIKĪ PRAKRIYĀ

Adited with

'Chandrikā' Hindi Commentary

by

Dr. RAMAKANT TRIPHATI,

M. A., Ph. D.

Lecturer, Swami Devananda Degree College,

Mathalar, Deoria

Chaukhamba Amarabharati Prakashan

Oriental Publishers & Foreign Book-Sellers

Post Box No. 1138

K. 37/130, Gopal Mandir Lane

Varanasi–221001 (India)

Chaukhamba Amarabharati Prakashan
Post Box No. 1138
K. 37/130, Gopal Mandir Lane
Varanasi-221001 (India)

First Edition. 1984
Price : Rs. [illegible]-00

Also can be had from—
Chaukhamba Sanskrit Pustakalay
Kachauri Gali
Varanasi-221001

समर्पण

विद्वद्वरेण्य, कृपासिन्धु गुरुवर्य

पं० श्री रुद्रप्रसाद अवस्थी

भूतपूर्व अध्यक्ष :

प्राच्य संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

एवम्

अवकाशप्राप्त प्रधानाचार्य

श्री राजगोपाल संस्कृत महाविद्यालय, अयोध्या

के

करकमलों में

सादर-सभक्ति





भूमिका

संस्कृत भाषा के समस्त प्राचीन आर्ष व्याकरणों में एकमात्र पाणिनीय व्याकरण अपने साङ्गोपाङ्ग रूप में सम्प्रति उपलब्ध होने से प्राचीन आर्ष वाङ्मय की अनुपम निधि है। इससे देववाणी का प्राचीन और अर्वाचीन समस्त वाङ्मय सूर्य के आलोक की भाँति प्रकाशमान है। यह अनुपम ग्रन्थ शब्दानुशासन, वृत्तिसूत्र, अष्टक और अष्टाध्यायी नाम से प्रसिद्ध है। ग्रन्थ का विभाजन आठ अध्यायों में होने से इसे अष्टक या अष्टाध्यायी कहते हैं। सब नामों में अष्टाध्यायी नाम अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध है। पाणिनीय ग्रन्थ का शब्दानुशासन नाम महाभाष्य के आरम्भ में मिलता है—'...शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्'। (महाभाष्य प्रथम पंक्ति)। पाणिनीय ग्रन्थ के लिए वृत्तिसूत्र पद का प्रयोग महाभाष्य आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है। नागेश के अनुसार वृत्तिसूत्र नाम पड़ने का कारण यह है कि पाणिनीय सूत्रों पर वृत्तियाँ हैं, वार्तिकों पर नहीं, अतः दोनों में भेद दर्शाने के लिए पाणिनीय सूत्रों को वृत्तिसूत्र कहा गया। नागेश का कथन प्रामाणिक इस लिए है कि भर्तृहरि ने अपनी 'महाभाष्य दीपिका' में दो स्थानों पर वार्तिक के लिए 'भाष्यसूत्र' पद का व्यवहार किया है जिसका आशय यही है कि वार्तिकों पर भाष्य ग्रन्थ ही लिखे गये, वृत्तियाँ नहीं। जबकि पाणिनीय सूत्रों पर वृत्तियाँ ही लिखी गयी, उन पर सीधे भाष्य ग्रन्थों की रचना नहीं हुई।

जो कुछ भी हो, पाणिनि का यह ग्रन्थ भारतीय प्राचीन आचार्यों के सूक्ष्मचिन्तन, सुपरिपक्व ज्ञान और अद्भुत प्रतिभा का निदर्शक है। इससे देववाणी परम और गौरवान्वित है। संसार भर में किसी भी अन्य प्राचीन अथवा अर्वाचीन भाषा का ऐसा परिष्कृत व्याकरण आज तक नहीं बना। यही कारण है कि संसार का प्रत्येक विद्वान् इसकी अत्यन्त सुन्दर सुसम्बद्ध और सूक्ष्मतम पदार्थ को द्योतित करने की क्षमता से पूर्ण रचना पर मुग्ध होता हुआ मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा करता है।

विभिन्न ग्रन्थों में पाणिनि के अनेक नाम मिलते हैं। यथा—पाणिन, पाणिनि, दाक्षीपुत्र, शालङ्कि, शालातुरीय, आहिक, पाणिनेय आदि। किन्तु ये पाणिनि नाम से ही लोकविश्रुत हैं। पाणिनि शब्द को देखते हुए स्पष्ट प्रतीत होता है कि पाणिनि के पिता का नाम पणिन् (पणी) अथवा पणिन (अकारान्त) है।

पतञ्जलि ने महाभाष्य (१।१।२०) में पाणिनि को 'दाक्षीपुत्र' कहा है। इससे व्यक्त होता है कि पाणिनि की माता का नाम 'दाक्षी' था और वे दक्ष-कुल की थीं। महाभाष्य (२।३।६६) के अनुसार संग्रहकार आचार्य व्याडि का एक नाम दाक्षायण है। यही दाक्षायण काशिका (६।२।६९) में दाक्षि नाम से स्मृत है अतः व्यक्त होता है कि व्याडि (दाक्षि अथवा दाक्षायण नाम के आधार पर) पाणिनि की माता दाक्षी का भाई और पाणिनि का मामा था। व्याडि शब्द इञ् प्रत्ययान्त है जिससे व्यक्त होता है कि व्याडि के पिता (पाणिनि के नाना) का नाम व्यड था। वेदार्थ दीपिका में छन्दःशास्त्र के प्रवक्ता आचार्य पिङ्गल को पाणिनि का अनुज लिखा है।

पाश्चात्य विद्वानों ने पाणिनि का समय ७वीं शती ईसापूर्व से लेकर ४थी शती ईसापूर्व अर्थात् ६५७ वि.पू. से २५८ वि.पू. तक माना है। उनके दिये गये मुख्य प्रमाणों को आचार्य श्री युधिष्ठिर मीमांसक जी 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में खण्डित कर पाणिनि का समय अपने सुदृढ़ प्रमाणों और अकाट्य तर्कों के आधार पर मोटे तौर पर २९०० वर्ष वि० पू० मानते हैं।

अष्टाध्यायी और सिद्धान्तकौमुदी

अष्टाध्यायी पाणिनि-कृत व्याकरण शास्त्र का मौलिक ग्रन्थ है और सिद्धान्तकौमुदी उसीका प्रक्रियाग्रन्थ है। 'प्रक्रियाग्रन्थ' कहने से एक ऐसे व्याकरण ग्रन्थ का बोध होता है जिसका निर्माण एक-एक प्रयोग की साधुता असाधुता दर्शाने के लिए, किसी व्याकरणशास्त्रविषयक मौलिक ग्रन्थ के सूत्रों के निश्चित क्रम को तोड़कर, सद्यः रूपसिंद्धि की भावना से, भिन्न-भिन्न स्थानों से सूत्रों को उठाकर, उस स्थान-विशेष पर बिठाकर किया गया होता है। प्रक्रिया क्रमानुसार लिखा गया ऐसा ग्रन्थ अपेक्षाकृत लघु तो होता ही है, व्याकरण के अध्ययन को आपाततः सुगम दिखाकर पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट भी करता है।

पाणिनीय व्याकरण के बाद कातन्त्र आदि ऐसे अनेक लघु व्याकरण-प्रक्रिया क्रमानुसार लिखे गये जिनमें यह विशेषता है कि छात्र इन ग्रन्थों का जितना भाग अध्ययन करके छोड़ देता है, उसे उतने विषय का ज्ञान हो जाता है, परिणाम यह हुआ कि अल्पमति एवं लाघवप्रिय व्यक्ति पाणिनीय व्याकरण को छोड़ कर कातन्त्र आदि प्रक्रियानुसारी व्याकरणों का अध्ययन करने लगे। इन प्रक्रिया ग्रन्थों से पाठकों को ऐसा आभास हुआ कि पाणिनीय अष्टाध्यायी-क्रम से व्याकरण का अध्ययन कठिन एवम् अग्राह्य है। तुलनात्मक दृष्टि से उन्हें यह मिथ्या-अनुभव भी हुआ कि अष्टाध्यायी में प्रक्रियानुसार प्रकरण-रचना न होने से जब तक सम्पूर्ण ग्रन्थ का अध्ययन न कर लिया जाय, तब तक किसी एक विषय का भी ज्ञान नहीं होता। उसके कम से कम छः अध्याय जब तक नहीं पढ़े जाते, तब तक केवल एक समास विषय का भी ज्ञान नहीं होता, क्योंकि समास से सम्बन्ध रखने वाले समस्त कार्य प्रथम, द्वितीय, पञ्चम और षष्ठ अध्याय के अनेक स्थानों में बिखरे हुए हैं।

ऐसी विषम परिस्थिति में पाणिनीय व्याकरण की रक्षा के लिए पाणिनीय वैयाकरण भी पारमार्थिक दृष्टि से अमान्य होने पर भी प्रक्रिया-क्रम से अष्टाध्यायी के पठन-पाठन के उद्देश्य से प्रक्रिया ग्रन्थों की रचना में प्रवृत्त हुए। अष्टाध्यायी के प्रक्रियाग्रन्थों की सिद्धान्तकौमुदी का सर्वोच्च स्थान है। धर्मकीर्ति (सं० ११४० वि० के लगभग) का 'रूपावतार' अष्टाध्यायी पर लिखे गये उपलब्ध प्रक्रियाग्रन्थों में प्राचीनतम ग्रन्थ है। अतः प्रक्रियाग्रन्थों का प्रारम्भ 'रूपावतार' से माना जाता है।

धर्मकीर्ति ने 'पाणिनीय व्याकरण की नये क्रम से पुनर्व्यवस्था' को दृष्टि में रखकर सरल से सरलतर विधि अपनाने के प्रयत्न में अष्टाध्यायी के प्रत्येक प्रकरण से उपयोगी सूत्रों का संकलन कर इस ग्रन्थ की रचना की है। फलतः अष्टाध्यायी के थोड़े से ही सूत्रों का समावेश इस ग्रन्थ में हो सका। इसके परवर्ती 'प्रक्रियारत्न' के रचयिता (अज्ञात नामा, सं० १३०० वि० पूर्व) 'रूपमाला' के रचयिता विमल सरस्वती (सं० १४०० वि० पू०) तथा 'प्रक्रियाकौमुदी' के रचयिता रामचन्द्र (सं० १४५० वि० के लगभग) ने

धर्मकीर्ति का आदर्श अपनाया है। सबों ने प्रक्रियाज्ञान कराने के मुख्य उद्देश्य से सरल ढंग और सरल शब्दों में मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया है। उक्त किसी प्रक्रिया ग्रन्थ में पाणिनि के समस्त सूत्रों का सन्निवेश नहीं हो सका। इसी कमी को पूर्ण करने के लिए भट्टोजिदीक्षित (सं० १५७०–१६५० वि० के मध्य) ने पाणिनीय व्याकरण पर 'सिद्धान्तकौमुदी' प्रक्रिया ग्रन्थ की रचना की। दीक्षित जी को किसी पाणिनीय सूत्र को छोड़ना सह्य नहीं रहा अतः अनावश्यक से प्रतीत होने वाले सूत्रों को भी बड़ी खूबसूरती से अनिवार्य क्रम का अंग बनाते हुए प्रायः सभी (३९७५) सूत्रों को उन्होंने 'सिद्धान्तकौमुदी' में संकलित कर दिया। भट्टोजिदीक्षित की अन्य कृति 'शब्द-कौस्तुभ' अष्टाध्यायी की महती वृत्ति है। यह वृत्ति सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर थी किन्तु सम्प्रति इसके प्रारम्भ के ढाई अध्याय और चतुर्थ अध्याय उपलब्ध होते हैं। अतो लोपः (६।४।५८) सूत्र की प्रौढमनोरमा और उसकी शब्दरत्न व्याख्या से इतना स्पष्ट विदित होता है कि शब्दकौस्तुभ षष्ठाध्याय तक अवश्य लिखा गया था। सिद्धान्तकौमुदी के उत्तरकृदन्त प्रकरण के अन्त में लिखा है—

इत्थं लौकिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्।
विस्तरस्तु यथाशास्त्रं दर्शितः शब्दकौस्तुभे॥

इससे व्यक्त होता है कि दीक्षित जी ने 'शब्दकौस्तुभ' की रचना सिद्धान्तकौमुदी से पूर्व की थी। यह पाणिनीय व्याकरण की सूत्रपाठानुसारी व्याख्या होने के नाते अष्टाध्यायी के साथ ही उपेक्षित हो जाने के कारण सम्पूर्ण नहीं मिलता है।

सिद्धान्तकौमुदी की महत्ता

सिद्धान्तकौमुदी यद्यपि अष्टाध्यायी की प्रयोगानुसारी व्याख्या है फिर भी पाणिनीय सूत्रों के क्रम को अपनी सुविधानुसार वदल कर उन्हें खूबसूरती से उचित एवम् उपयुक्त स्थानों पर बिठा देने के कारण उसे देखकर आपाततः लोगों को मौलिक ग्रन्थ की प्रतीति होती है। यह भट्टोजिदीक्षित की प्रखर प्रतिभा का निदर्शक है। इसमें जहाँ युगानुकूल विषयों का विभाजन है, वहीं पाणिनि की सारी संक्षेप मूलक विशेषताएँ और गम्भीर विवेचन भी देखने को मिलता है। जनता में इसे वह सम्मान मिला कि अन्य प्रक्रियाग्रन्थों और

व्याकरणों का मार्ग बहुत दूर तक अवरुद्ध हो गया। पाणिनीय व्याकरण को नष्टप्राय होने से बचाने का सारा श्रेय सिद्धान्तकौमुदी को ही है। यद्यपि पाणिनीय व्याकरण का समस्त पठन-पाठन सिद्धान्तकौमुदी (प्रक्रियाग्रन्थ) के अनुसार होने लगा और धीरे-धीरे सूत्रपाठक्रमानुसारी पठन-पाठन का उच्छेद हो गया, फिर भी सिद्धान्तकौमुदी की परिपूर्णता और उसकी विशेषताओं के कारण पाणिनीय व्याकरण के शास्त्रत्व को कोई क्षति नहीं पहुँच सकी। भट्टोजिदीक्षित कृत सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या प्रौढमनोरमा, उसकी भी टीका शब्दरत्न सिद्धान्तकौमुदी की अपर व्याख्या नागेशकृत शब्देन्दुशेखर आदि के समुचित अध्ययन से आज भी पाणिनीय व्याकरणशास्त्र की परम्परा स्थिर है, पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन इस प्रकार आज भी पृथक् शास्त्र बना कर किया जा रहा है जब कि यत्र-तत्र कातन्त्र सारस्वत और मुग्धबोध आदि का स्वल्प क्षेत्र में साधन रूप में ही केवल भाषा के बोध के लिए मध्यम प्रचलित है। ऐसे व्याकरणों में गाम्भीर्य और शास्त्रत्व का लेश भी नहीं है। सिद्धान्तकौमुदी के गौरव का पता इस बात से भी चलता है कि सिद्धान्तकौमुदी की इक्कीस टीकाएँ प्रबुद्ध वैयाकरणों द्वारा की गयी हैं। उनमें से आज कुछ अनुपलब्ध हैं, कुछ की हस्तलिपियाँ विभिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं और कतिपय टीकाएँ आज भी बहु प्रचलित हैं। ज्ञानेन्द्र सरस्वती (सं० १५००–१६०० वि०) के द्वारा रची गयी 'तत्त्वबोधिनी' तथा वासुदेव वाजपेयी (सं० १७४०–१८०० वि०) के द्वारा विरचित 'बालमनोरमा' व्याख्या का पण्डित-समाज में बड़ा प्रचार और आदर है। भट्टोजिदीक्षित ने महाभाष्य और वाक्यपदीय में पल्लवित व्याकरण दर्शन को भी अक्षुण्ण रखने और प्रौढता की ओर बढ़ाने के लिए एक कारिकात्मक ग्रन्थ लिखा। उन कारिकाओं की व्याख्या उनके भतीजे कौण्डभट्ट (सं० १६००–१६७५ वि० के मध्य) ने की जो 'वैयाकरणभूषण' नाम से प्रसिद्ध व्याकरण-दर्शन का अनुपम ग्रन्थ है। आरम्भ में लिखा है—

'फणिभाषितभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः।
तत्र निर्णीत एवार्थः संक्षेपेण कथ्यते॥'

इससे स्पष्ट विदित होता है कि इस कारिकाग्रन्थ के लेखक भट्टोजिदीक्षित हैं और इसकी रचना शब्दकौस्तुभ के बाद हुई है।

भट्टोजिदीक्षित द्वारा प्रारम्भ किये गये इस कार्य को बढ़ाने और सफल बनाने के लिए दीक्षित जी के पौत्र हरिदीक्षित के शिष्य नागेश (सं० १७२०–१८१० वि० के मध्य) ने वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा नामक एक अत्यन्त प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ लिखा जिसकी दुर्बलाचार्य एवं नागेश के प्रमुख शिष्य वैद्यनाथपायगुण्ड ने क्रमशः 'कुञ्जिका' और 'कला' नाम्नी टीकाएँ लिखी हैं।

इसप्रकार भट्टोजिदीक्षित ने समय की पुकार पर अष्टाध्यायी को बचाने के प्रयास में सिद्धान्तकौमुदी का सृजन कर तथा अपने अन्य सहयोगियों का स्तुत्य सहयोग पाकर पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन की एक नवीन धारा ही प्रवर्तित कर दी जो 'नव्यव्याकरण' के नाम से जानी जाती है।

प्रक्रियाग्रन्थों के आधार पर पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन का क्रम वि० की १५ वीं शताब्दी से आरम्भ हुआ और अतिशीघ्र सम्पूर्ण भारत में प्रचलित हो गया। नवीनता के आवेश में अष्टाध्यायीक्रम से अध्ययन की प्राचीन प्रणाली वि० की सोलहवीं शताब्दी के अनन्तर लुप्त हो गयी। दोनों प्रणालियों की तुलना करने पर तथ्य यह निकलता है कि नवीन प्रणाली अधिक लाभदायक है।

सर्वसम्मत नियम यही है कि किसी ग्रन्थ का अध्ययन यदि ग्रन्थकार के विरचित क्रम से किया जाता है तो उसमें अत्यन्त सरलता होती है। इस नियम के अनुसार अष्टाध्यायी क्रम से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन करने से सिद्धान्तकौमुदी आदि ग्रन्थों की अपेक्षा अल्प परिश्रम और अल्पकाल में अधिक बोध होता है और वह बोध अपेक्षाकृत चिरस्थायी भी होता है। किसी सूत्र का अर्थ दीक्षित ने ऐसा क्यों लिखा, किस पद का अनुवर्तन कहाँ से हुआ इसका ज्ञान सिद्धान्तकौमुदी पढ़ने वाले छात्र को नहीं होता, उसे टीकाकारों पर ही अवलम्बित होना पड़ता है। सूत्र के साथ-साथ पांच छः गुनी वृत्ति भी कण्ठाग्र करनी पड़ती है। अष्टाध्यायी क्रम से पढ़ने वाले छात्र को उन पदों की अनुवृत्तियों का सम्यक् बोध रहता है अतः उसे वृत्ति रहने का परिश्रम नहीं करना पड़ता है। उसे पूर्वानुवृत्त पदों के सम्बन्ध मात्र का ज्ञान करना होता है। इस प्रकार सूत्रमात्र कण्ठाग्र कर महान् परिश्रम और समय की व्यर्थ हानि से बच जाता है।

इट्, द्विर्वचन, नुम् आदि कार्यों की प्राप्ति में सन्देह उत्पन्न होने पर अष्टाध्यायी-क्रम से पढ़ने वाला तत्काल प्रकरण का पाठ करके सन्देह मुक्त हो सकता है जब कि सिद्धान्तकौमुदी क्रम से पढ़ने वाले को अत्यन्त कठिनाई होगी क्योंकि उसमें एक प्रकरण के सूत्र विभिन्न प्रकरणों में बिखरे हुए हैं।

'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' 'असिद्धवदत्राभात्' 'पूर्वत्रासिद्धम्' आदि सूत्रों के कार्यों में सूत्रपाठक्रम का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। उसके बिना पूर्व-पर आभात्, सपादसप्ताध्यायी, त्रिपादी आदि का ज्ञान न होने से शास्त्र का पूरा बोध नहीं होता। सिद्धान्तकौमुदी के क्रम से पढ़े हुए छात्र को सूत्रपाठक्रम का ज्ञान न होने से महाभाष्य को समझने में कठिनाई का अनुभव होता है।

विक्रम की १९ वीं शताब्दी के अन्त में महावैयाकरण दण्डी स्वामी विरजानन्द की दृष्टि उक्त हानियों की ओर गयी और उन्होंने अष्टाध्यायी क्रम से प्राचीन प्रणाली के अनुसार पाणिनीय व्याकरण पढ़ाना आरम्भ किया। उनके शिष्य स्वामी दयानन्द ने भी अष्टाध्यायी के अध्ययन पर बल दिया। उनके अनुयायी सम्प्रति प्रायः अष्टाध्यायी क्रम से ही व्याकरण का अध्ययन करते हैं। सामान्य जनता में अब भी प्रायः सिद्धान्तकौमुदी का ही अध्ययन प्रचलित है। वस्तुतः इस युग में जब कि वैसी संकट की स्थिति नहीं रह गयी है, नूतन प्रणाली का मोह त्याग कर हम भारतीयों को अष्टाध्यायी-क्रम से ही पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

सिद्धान्तकौमुदी : वैदिकी प्रक्रिया

वैदिकी प्रक्रिया सिद्धान्तकौमुदी का अन्तिम प्रकरण है। लौकिक शब्दों के अन्वाख्यान के पश्चात् वैदिक खण्ड में वैदिक शब्दों का अन्वाख्यान तथा वैदिक-स्वरों की प्रक्रिया समझायी गयी है। अतः वैदिक खण्ड के दो विभाग हैं—वैदिकी प्रक्रिया और स्वर प्रक्रिया। अष्टाध्यायी में वैदिक सूत्र क्रमबद्ध रूप में नहीं हैं क्योंकि पाणिनि का लक्ष्य वैदिक भाषा का व्याकरण लिखने का नहीं था। जिन स्थानों पर लौकिक भाषा से भिन्नता का प्रसङ्ग आया है, वहीं-वहीं वैदिक सूत्र दे दिये गये हैं। फलस्वरूप वैदिक सूत्र आठों अध्यायों में यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। दीक्षित जी ने उन सूत्रों का संकलन बड़े सुगम ढंग से

किया है। वैदिकी प्रक्रिया के उन्होंने आठ अध्याय किये। क्रम से एक-एक अध्याय में अष्टाध्यायी के उस-उस अध्याय से सूत्रों को चुन कर संकलित कर दिया है।

नागेशकृत सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या 'लघुशब्देन्दुशेखर' में वैदिक स्वर प्रक्रिया भी व्याख्यात है। जयकृष्ण नामक एक अन्य विद्वान् ने केवल 'वैदिक स्वर प्रक्रिया' खण्ड की सुबोधिनी व्याख्या लिखी है। सिद्धान्तकौमुदी की वैदिकी प्रक्रिया कतिपय विश्वविद्यालयों में एम० ए० तथा संस्कृत पाठशालाओं में व्याकरण शास्त्री की परीक्षाओं में पाठ्यग्रन्थ के रूप में निर्धारित है। इसके पृथक् संस्करण की महती आवश्यकता समझ कर 'चौखम्भा अमरभारती प्रकाशन' के संचालक महोदय के आग्रह पर मैं इसकी 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या की रचना में प्रवृत्त हुआ। प्रपञ्चात्मक जगत् की अनेक कठिनाइयों को जैसे-तैसे पार करता हुआ माँ सरस्वती की कृपा से इसे पूर्ण करने में सफल हुआ। मुझे उक्त दोनों संस्कृत-व्याख्याओं से बड़ी सहायता मिली है एतदर्थ उन प्राचीन आचार्यों का मैं आभारी हूँ। पूज्य डॉ० उमाशङ्कर शर्मा ऋषि की 'वैदिकी प्रक्रिया' पर सरल हिन्दी व्याख्या देखने से मुझे जो प्रेरणा मिली और अपना मार्ग अपनाने में जो सरलता हुई, उसके लिए नीरजस्तम्भ आप्त 'ऋषि' जी के चरणों में श्रद्धावनत हो, उनका आभार स्वीकार करता हूँ। प्रकाशक महोदय तथा उनके कर्त्तव्यनिष्ठ सहयोगी जन भी धन्यवाद के पात्र हैं जिनके अनवरत प्रयास से यह संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हो सका। यदि पाठकों को इस व्याख्या से अर्थावबोध में सरलता का अनुभव हुआ तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

अन्त में अज्ञान-वश तथा मानुष-सुलभ प्रमाद-वश हुई त्रुटियों एवं प्रूफ-सम्बन्धी अशुद्धियों के लिए विद्वज्जनों के समक्ष नतमस्तक हो, क्षमाप्रार्थी हूँ। इति—

विद्वद्विधेय
हिन्दी व्याख्याकार

गुरुपूर्णिमा
वि० सं० २०४१

शुद्धि-पत्र

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१९	उक्त सूत्र से 'ना'	उक्त सूत्र से 'वा'
१३	१५	'सार्वधातुकयोः'	'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'
,,	२६	आव्र्त्	आवर्त्
१५	६	तवर्ग (त्)	तवर्ग (न्)
१७	२७	'प्रजान् + इ'	'राम् + इ'
१८	२२	बहुवचन में	द्विवचन में
१९	१५	हल प्रेरणे	इल प्रेरणे
२३	१०	आश्रय	आशय
२७	१६	श्वेता एवं	श्वेता एनं
२८	३	उक्थ + श् + अश्	उक्थ + श् + अस्
,,	८	प्रत्यय और दाश् के	दाश् के
२९	८	प्रश्चभ्रस्ज तृज	व्रश्चभ्रस्जसृज
३०	४	वलोपः	नलोपः
३१	१८	कृ + कानन्	कृ + कानच्
३२	२७	आघयति	अघायति
३६	२०	लेष्टः अट्	लेटः अट्
३७	२४	भू + आ + नि	भू + आ + ति
३९	१९	ईट् उत्तमपुरुष़	(इट् उत्तम पुरुष)
,,	२२	ग्रह + ष्	ग्रह + य्
५०	११	'श्ना' विकरण	'श्नु' विकरण
५३	४	व्यरव्वदायती	व्यख्यदायती
५९	९	मौञ्जवत् शब्द	मौञ्जवत शब्द
६५	१८	अद्वानासामुपधा नो	तद्वानासामुपधानो
६८	५	पूर्व + अस् + असुक् (अस्) पूर्वासस्	पूर्व्य + अस् + असुक् (अस्) = पूर्व्यासस्

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८०	१४	वह शब्द	बहुशब्द
८६	१५	विसर्गं = आतृचुः	विसर्ग = आनृचुः
१००	१६-१७	वही के साथ डकार ऊष्म वर्ण (ह)	वही डकार ऊष्मवर्ण (ह) के साथ
१०२	२	घस् का	थ का
१०५	४	अस् और शस्	जस् और शस्
१०७	२३	अट् + विप्	अट् + वप्
१११	१६	'वि तप् न् इरे'	'वि त त् न् इरे'
११२	१४	श्रधी	श्रुधी
११६	१३	मध्वी	माध्वी
१२४	११	'नाधया'	'नावया'
१२५	१२	अदुह् + र् + अत = अदुह्रत	अदुह + अत = अदुहत
१२६	६	'एवम्'	'एनम्'
,,	१९	'स' आदेश	'त' आदेश
१३३	१८	'तुम्' का	'नुम्' का



॥ श्रीः ॥

सिद्धान्त-कौमुदी

'चन्द्रिका' हिन्दीव्याख्याविभूषिता

वैदिकी प्रक्रिया

प्रथमोऽध्यायः

१. छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम् १।२।६१ ॥ द्वयोरेकवचनं वा स्यात्—पुनर्वसु नक्षत्रं, पुनर्वसू वा । (लोके तु द्विवचनमेव ।)

२. विशाखयोश्च १।२।६२ ॥ प्राग्वत् । विशाखा नक्षत्रं, विशाखे वा ।

१. 'पुनर्वसु' शब्द से सदा एक साथ दिखायी पड़ने वाले दो नक्षत्रों के जोड़े का बोध होता है। यह 'पुनर्वसु' शब्द वेद में विकल्प से एक वचन होता है अर्थात् एकवचन और द्विवचन दोनों होता है। इसी लिए वेद में 'पुनर्वसुः' (एक वचनान्त) और 'पुनर्वसू' (द्विवचनान्त) दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। लोक (संस्कृत) में तो 'पुनर्वसु' शब्द सदा द्विवचन[1] ही होता है। यह अवधेय है कि 'पुनर्वसु' शब्द से जब नक्षत्र का बोध होता है तभी ऐसा होता है। शिव या विष्णु के विशेषण के रूप में प्रयुक्त 'पुनर्वसु' शब्द के लिए यह नियम नहीं समझना चाहिये।

२. विशाखा (नक्षत्र) के विषय में भी पूर्वोक्त नियम समझना चाहिये, अर्थात् 'विशाखा' शब्द भी वेद में एक वचन और द्विवन दोनों होता है। 'विशाखा' (एकवचनान्त) और 'विशाखे' (द्विवचनान्त)। लोक में सदा 'विशाखे' (द्विवचनान्त) ही होता है।[2]

---

१. 'गां गताविव दिवः पुनर्वसू' (रघुवंश ११।३६)।

२. 'किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशांकलेखामनुवर्तेते' इत्यादौ ।

३. षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा १।४।९॥ षष्ठ्यन्तेन युक्तः पतिशब्दश्छन्दसि घिसंज्ञो वा स्यात्—क्षेत्रस्य पतिना वयम् । इह वेति योगं विभज्य छन्दसीत्यनुवर्तते । तेन सर्वे विधयश्छन्दसि वैकल्पिकाः । 'बहुलं छन्दसि' इत्यादिरस्यैव प्रपञ्चः ।

३. वेद में 'पति' शब्द समासगत न होने पर भी विकल्प से घिसंज्ञक होता है, शर्त यह है कि किसी षष्ठ्यन्त पद के साथ वह आया हुआ हो ।

यथा—'क्षेत्रस्य पतिना वयम्' यहाँ 'पति' शब्द समासगत नहीं हैं तब भी 'क्षेत्रस्य' षष्ठ्यन्तपद के साथ आने से उसकी विकल्प से 'घि' संज्ञा हुई है और फलस्वरूप 'पति' शब्द से आयी हुई 'टा' विभक्ति को 'ना' हो गया (आङो नाऽस्त्रियाम् ७।३।१२०)। घिसंज्ञा के अभावपक्ष में 'टा' को 'ना' नहीं होगा 'इकार' को 'यण्' (य्) होने से 'पत्या' होगा। लोक में तो समास में ही 'पति' शब्द 'घि' होता है (पतिः समास एव १।४।८) अत एव अकेले 'पति' शब्द का तृतीया विभक्ति में 'पत्या' रूप बनता है।

यह अवधेय है कि वेद का उक्त नियम किसी षष्ठ्यन्तपद से युक्त 'पति' शब्द के लिए है अतएव 'मया पत्या जरदष्टिर्यथासः' इस वैदिकवाक्य में 'पति' शब्द की 'घि' संज्ञा न होने से 'पतिना' के स्थान पर 'पत्या' का प्रयोग हुआ हैं क्योंकि यहाँ 'पति' शब्द षष्ठ्यन्त पद से युक्त नहीं है ।

उक्त सूत्र से 'ना' इतने अंश को अलग करके 'छन्दसि' इस पद की अनुवृत्ति करने पर सिद्ध होता है कि वेद में सभी नियम विकल्प से होते हैं अत एव 'बहुलं छन्दसि' इत्यादि को इसी का विस्तार समझना चाहिये ।

('यचि भम्' १।४।१८ ॥ (वा०) नभोऽङ्गिरोमनुषां वत्युपसङ्ख्यानम् । नभसा तुल्यं नभस्वत्, भत्वाद् रुत्वाभावः) अङ्गिरस्वदङ्गिरः ऋ० १।२।३५ ॥ मनुष्वदग्ने ऋ० १।२।३५ ॥ 'जनेरुसिः' उ० सू० २७२ । इति विहित उसिप्रत्ययो मनेरपि, बाहुलकात् ।

पाणिनि जी ने विभिन्न प्रयोजनों से पदसंज्ञा और भसंज्ञा का विधान किया है। सुबन्त (प्रातिपदिकशब्दों के रूप) और तिङन्त (धातुओं के रूप)

'पद' कहे जाते हैं (सुप्तिङन्तं पदम् १।४।१४)। इसके अतिरिक्त 'स्वादिष्व-सर्वनामस्थाने' १।४।१७ सूत्र से भी पद संज्ञा का विधान किया गया है जिसका आशय है कि अनपुंसक सुट्—अर्थात् सु, औ, जस् (प्रथमा के तीनों वचन की विभक्ति) तथा अम्, औट् (द्वितीया के एकवचन और द्विवचन की विभक्ति) इन पाँचों को छोड़कर 'सु' से लेकर 'कप्' (पञ्चम अध्याय के अन्त में विधीय-मान) तक के प्रत्ययों के पर होने पर पूर्व शब्दरूप पद कहलाता है। पुनः 'यचि भम्' १।४।१८ सूत्र से भसंज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि उपर्युक्त प्रत्ययों में ही जो यकारादि हैं या स्वरादि हैं—यकार अथवा स्वरवर्ण से आरम्भ होते हैं उन प्रत्ययों के पर होने पर पूर्व शब्दरूप 'भ' कहा जायगा 'पद' नहीं अर्थात् इस प्रकार भ संज्ञा से पद संज्ञा बाधित हो जाती है।

वेद में 'वति' प्रत्यय परे होने पर नभस्, अङ्गिरस् और मनुष् की भसंज्ञा हो जाती है। यथा—नभसा तुल्यं नभस्वत्। नभस् शब्द से 'तेन तुल्यं—क्रिया चेद् वतिः ५।१।११५' से वति प्रत्यय होने पर नभस् की भसंज्ञा हो गयी भसंज्ञा होने का ही फल है कि यहाँ 'ससजुषो रुः' (८।२।६६) से सकार को रु नहीं हुआ क्योंकि 'नभस्' तो पद है नहीं वह तो 'भ' हो चुका इस प्रकार सकार पदान्त नहीं रह गया, जब कि रुत्व होता है पदान्त सकार को। इसी प्रकार अङ्गिरस्वत् और मनुष्वत् में भी समझना चाहिये। भसंज्ञा होने से ही 'अङ्गिरस्वत्' में रुत्व नहीं हुआ और मनुष्वत्' में 'आदेश प्रत्यययोः' से षत्व हुआ है। औणादिक 'जनेरुसिः' (२७२) सूत्र से विहित उसि प्रत्यय 'मन्' धातु से भी होने पर 'मनुष्' शब्द बना है। ऐसा बाहुलक से होता है। 'बाहुलक' व्याकरणशास्त्र में प्रयुक्त उस विधि विशेष को कहते हैं जिसके द्वारा किसी रूप, अर्थ या नियम की विविध अथवा असीम प्रयोजनीयता सिद्ध होती है। प्रस्तुत प्रकरण में 'बाहुलक' का यह आशय हुआ कि औणादिक 'उसि' प्रत्यय जिस प्रकार 'जन्' धातु से हो उसी प्रकार 'मन्' धातु से भी हो। यह उक्ति सर्वविदित ही है—

'क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥' इति॥

(वा०) वृषण्वस्वश्वयोः। वृष वर्षुकं वसु यस्य स वृष-ण्वसुः। वृषा अश्वो यस्य स वृषणश्वः। इहान्तर्वर्तिनीं विभक्ति-

माश्रित्य पदत्वे सति नलोपः प्राप्तो भत्वाद्वार्यते। अत एव 'पदान्तस्य' ८।४।३७॥ इति णत्वनिषेधोऽपि न। 'अल्लोपोऽनः' ६।४।१३४। इति अल्लोपो न, अनङ्गत्वात्।

'वेद में 'वृषन्' शब्द की भसंज्ञा हो जाती है यदि उससे परे वसु या अश्व शब्द हो। यथा—वृषण्वसुः—वृष वर्षुकं वसु यस्य स वृषण्वसुः (वह व्यक्ति जिसके पास धन वर्षा करे)। 'वृषन्+सु' इस अलौकिक विग्रह में 'अनेक मन्यपदार्थे' सूत्र से बहुव्रीहि समास करने पर 'सुपो धातु प्रातिपदिकयोः' सूत्र से सुप् (सु) का लुक् होने पर अन्तर्वर्तिनी विभक्ति (सु) का आश्रय लेकर 'वृषन्' शब्द को पद कर देने पर 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) सूत्र से नकार का लोप प्राप्त था (लोक में वृषवसुः, वृषाश्वः होता भी है) किन्तु प्रकृत वार्तिक से जब 'वृषन्' को भसंज्ञक मान लिया गया तब वह पद रह ही नहीं गया और नकारलोप का प्रश्न ही समाप्त हो गया। इतना ही नहीं, 'वृषन्' का नकार अब पदान्त नहीं रह गया अतएव 'पदान्तस्य' (८।४।३७) सूत्र, उसके णत्व का निषेध भी नहीं कर सका। यहाँ भसंज्ञा हो जाने पर 'अन्' के अकार का लोप 'अल्लोपोऽनः (६।४।१३४) सूत्र से क्यों नहीं हुआ— यह प्रश्न भी उठाना व्यर्थ है क्योंकि 'अल्लोपोऽनः' सूत्र अन् से अन्त होने वाले अङ्ग भ के अकार का लोप करता है। यहाँ 'भ' का अधिकार तो है किन्तु कोई प्रत्यय न होने से 'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्' (१।४।१३) सूत्र के अनुसार अङ्गाधिकार नहीं है।

४. अयस्मयादीनि छन्दसि १।४।२०॥ एतानि छन्दसि साधूनि। भपदसंज्ञाधिकाराद् यथायोग्यं संज्ञाद्वयं बोध्यम्। तथा च वार्त्तिकम्—'उभयसंज्ञान्यपीति वक्तव्यम्' इति। 'स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन' ऋ० ३।७।२६॥ पदत्वात् कुत्वम्, भत्वाज्जश्त्वाभावः, जश्त्वविधानार्थायाः पदसंज्ञाया भत्व-सामर्थ्येन बाधात्। 'नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु' ऋ० ८।२।३ अत्र पदत्वाज्जश्त्वम्, भत्वात् कुत्वाभावः।

वेद में अयस्मय आदि शब्दों की सिद्धि के लिए कार्य के अनुसार भसंज्ञा अथवा पदसंज्ञा वा दोनों संज्ञायें एक ही शब्द में मान ली जाती हैं क्योंकि इस सूत्र में 'भ' और 'पद' दोनों संज्ञाओं का अधिकार है। वार्तिककार भी कहते हैं कि अयस्मय आदि शब्दों की सिद्धि के लिए 'भ' और 'पद' दोनों संज्ञायें मान ली जाँय 'उभयसंज्ञान्यपीति वक्तव्यम्।' अयस् (लोहा) शब्द से विकार अर्थ में 'द्व्यचश्छन्दसि' (४।३।१५०) से मयट् प्रत्यय होने पर 'अयस् + मय' इस स्थिति में सकार को रु और रु को उ न हो इसके लिए यहां भ संज्ञा मान ली गयी जिससे रुत्व का रास्ता रुक गया क्योंकि रुत्व होने के लिए सकार का पदान्त होना आवश्यक है। इस प्रकार वेद में अयस्मय शब्द आसानी से बन गया। इसी प्रकार ऋच् + वत् = ऋक्वत्। इसकी सिद्धि के लिए 'ऋच्' को पहिले 'पद' मान कर 'चोः कुः' सूत्र से 'च्' को 'क्' कर दिया। अब अभीष्ट यह है कि 'झलां जशोऽन्ते' सूत्र से 'क्' (झल्) को 'ग्' (जश्) न हो, इसके लिए 'भ' मान लिया तो जश्त्व वारण हो गया, क्योंकि जश्त्व विधान के लिए आवश्यक पदसंज्ञा को भसंज्ञा रोक देती है, कारण कि शास्त्रतः भसंज्ञा का विधान पदसंज्ञा के बाद हुआ है अतः भसंज्ञा 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र के अनुसार पदसंज्ञा की अपेक्षा बलवती ठहरती है। इसी प्रकार वाच् + इन = वाजिन की सिद्धि के लिए पहिले 'वाच्' को पद मान कर 'झलां जशोऽन्ते' सूत्र से झल् (च्) को जश् (ज्) करने के बाद पुनः उसी को भ मान लिया जिससे 'ज्' कवर्ग में परिणत नहीं हो सका।

५. ते प्राग्धातोः—छन्दसि परेऽपि १।४।८१ ॥

६. व्यवहिताश्च १।४।८२ ॥ 'हरिभ्यां याह्योक आ' ऋ० ५।३।१७॥ 'आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि' ऋ० ३।२।९॥

'ते प्राग्धातोः' (१।४।८०) सूत्र के अनुसार लोक में गति और उपसर्ग का प्रयोग धातु से पूर्व किया जाता है धातु के बाद नहीं, और न व्यवहित रूप में ही, किन्तु वेद में इनका प्रयोग धातु के बाद भी किया जाता है और व्यवहित रूप में भी।

उदाहरण—हरिभ्यां याह्योक आ (ऋ० ५।३।१७)। यहाँ 'आ' उपसर्ग

'याहि' के बाद प्रयुक्त हुआ है (लोक में आयाहि)। इस स्थिति में भी 'आ' उपसर्ग का सम्बन्ध 'याहि' से है।

आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि (ऋ० ३।३।९) यहाँ 'आ' उपसर्ग 'याहि' से पूर्व आया है जब कि दोनों के बीच[1] में मन्द्रैः, इन्द्र और हरिभिः ये तीन शब्द आये हैं, फिर भी 'उपसर्ग का सम्बन्ध 'याहि' से है।

७. इन्धिभवतिभ्यां च १।२।६ ॥. आभ्यां परो लिट्[1] कित् स्यात्। 'समीधे दस्युहन्तमम्' ऋ० ४।५।२३ ॥ 'पुत्र ईधे अथर्वणः' ऋ० ४।५।२३ ॥ बभूव। इदं प्रत्याख्यातम्। 'इन्धेश्छन्दोविषयत्वाद् भुवो वुको नित्यत्वात्ताभ्यां लिटः किद्वचनानर्थक्यम्' इति।

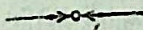
इन्ध् (जलाना) ओर भू (होना) धातुओं के बाद लिट् लकार की विभक्तियाँ कित् होती हैं। यथा—(समीधे सम्+ईधे) अथवा ईधे। इन्ध् धातु से लिट् लकार होने पर प्रकृत सूत्र से कित् होने के कारण 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' सूत्र से नकार का लोप हुआ है। लोक में 'इन्धाञ्चक्रे' होता है।

१. आधुनिक संस्करणों में 'आभ्यां परोऽपिल्लिट्कित् स्यात्'—ऐसा पाठ मिलता है जो सर्वथा अशुद्ध है। यहाँ 'लिट्' के साथ 'अपित्' विशेषण जोड़ना व्यर्थ ही नहीं, उद्देश्य के विरुद्ध भी है। 'इन्ध्' धातु आत्मने पदी है अतः लिट् (त' आताम्' झ इत्यादि तङ् विभक्तियाँ) अपित् ही होगा अतः इसके लिए 'अपित्' विशेषण जोड़ना व्यर्थ है। 'भू' धातु परस्मैपदी है इसका उपादान प्रकृत सूत्र में पित् लिट् (तिप्, सिप्, मिप्,) को कित् करने के लिए किया गया है। 'अपित्' विशेषण जोड़ना इस उद्देश्य के विरुद्ध पड़ता है। अपित् लिट् तो 'असंयोगाल्लिट् कित्' सूत्र से ही कित् सिद्ध हो जाता है। सुबोधिनीकार ने भी कहा है—'पित्त्वात् पूर्वेण ('असंयोगाल्लिट् कित्' इति सूत्रेण) अप्राप्तौ वचनम्।' भाष्यकार के कथन से भी इसी बात की पुष्टि होती है। 'श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस' बम्बई आदि के प्राचीन संस्करणों में 'आभ्यां परो लिट् कित् स्यात्'— यही पाठ मिलता है जो सर्वथा संगत और शुद्ध है।

वभूव—भूधातु से लिट् लकार की विभक्ति तिप् को णल् (अ) होने पर णित्वात् प्राप्त वृद्धि का 'क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया तव वुक् का आगम हुआ है।

महाभाष्य में इस 'इन्धभवतिभ्यां च' सूत्र का प्रत्याख्यान किया गया है। उसके अनुसार यह सूत्र व्यर्थ है क्योंकि इन्ध् धातु केवल वेद के लिए है जहाँ 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' इस सूत्र के 'अमन्त्रे' इस प्रतिषेध से 'आम्' नहीं होता। 'छन्दस्युभयथा' सूत्र से लिट् को सार्वधातुक मानकर 'सार्वधातुकमपित्' सूत्र से ङित् कर लेंगे और तव 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' सूत्र से सरलतापूर्वक नकार का लोप हो जायगा। यदि कहिये कि सार्वधातुक मान लेने पर 'रुधादिभ्यः श्नम्' से श्नम् होने लगेगा, ऐसी स्थिति में आर्धधातुक मान कर 'श्नम्' को रोक दिया जायगा। दूसरे भू धातु के लिट् लकार के प्रयोगों में कहीं गुण और वुक् एवं कहीं वृद्धि और वुक् एक साथ प्राप्त होते हैं, दोनों स्थितियों में वुक् नित्य होने के कारण गुण और वृद्धि को वाधित कर ता है[1], तदर्थं कित् करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस प्रकार उक्त दोनों धातुओं से लिट् को कित् करना व्यर्थ है!

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥



१. देखिये 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' पर नित्यत्वाद् वुग्गुणवृद्धी वाधते (दीक्षित)

८. तृतीया च होश्छन्दसि २।३।३ ॥ जुहोतेः कर्मणि तृतीया स्याद् द्वितीया च । 'यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति' । अग्निहोत्रशब्दोऽत्र हविषि वर्तते, 'यस्याग्निहोत्रमधिश्रितममेध्यमापद्येत' इत्यादिप्रयोगदर्शनात्, 'अग्नये हूयते' इति व्युत्पत्तेश्च । यवाग्वाख्यं हविर्देवतोद्देशेन त्यक्त्वा प्रक्षिपतीत्यर्थः ।

वेद में (दानार्थक और भोजनार्थक) हु धातु के कर्म में तृतीया और द्वितीया दोनों विभक्तियाँ होती हैं (जबकि लोक में केवल द्वितीया) । यथा—यवाग्वा अग्निहोत्रं जुहोति । यहाँ 'यवागू' और 'अग्निहोत्र' दोनों 'जुहोति' क्रिया के कर्म हैं, उनमें यवागू शब्द से तृतीया (यवाग्वा) और अग्निहोत्र शब्द से द्वितीया (अग्निहोत्रम्) हुई है । यहाँ अग्निहोत्रशब्द 'हवि' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि ऐसे प्रयोग मिलते हैं—'यस्याग्निहोत्रमधिश्रितममेध्यमापद्येत' । अर्थात् जिसका रखा हुआ अग्निहोत्र (हवि) अशुद्ध हो गया हो । अग्नये हूयते (जो अग्नि को दिया जाय) इस व्युत्पत्ति से भी अग्निहोत्र शब्द का हवि अर्थ निकलता है । अतः 'यवाग्वा अग्निहोत्रं जुहोति' का अर्थ हुआ—यवाग्वाख्यं हविर्देवतोद्देशेन त्यक्त्वा प्रक्षिपति, अर्थात् यवागू (हलवा) नामक हवि को देवता के निमित्त त्याग करके डालता है (देता है) ।

९. द्वितीया ब्राह्मणे २।३।६० ॥ ब्राह्मणविषये प्रयोगे दिवस्तदर्थस्य कर्मणि द्वितीया स्यात् । षष्ठ्यपवादः । 'गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः' ।

इससे पहिले के सूत्र 'दिवस्तदर्थस्य' (२।३।५८) के द्वारा द्यूतार्थक और क्रय-विक्रयव्यवहारार्थक 'दिव्' धातु के कर्म में षष्ठी का विधान किया गया है किन्तु ब्राह्मण (वेद का भाग विशेष) में उसी तदर्थ 'दिव्' धातु के कर्म में द्वितीया होती है । इस प्रकार यह सूत्र (द्वितीया ब्राह्मणे) 'दिवस्तदर्थस्य' सूत्र के द्वारा प्राप्त षष्ठी का अपवाद है । यथा—गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः

(उस दिन सभा में वे उसके घर्मं [वाणी] का व्यवहार करें) । यहाँ 'गाम्' में षष्ठी न होकर द्वितीया हुई है।

शेखरकार नागेश जी का मत है कि यतः पूर्वसूत्र 'विभाषोपसर्गे' (२।३।५९) के द्वारा षष्ठी और द्वितीया का वैकल्पिक विधान किया गया है अतः यह सूत्र (द्वितीया ब्राह्मणे) उपसर्गरहित 'दिव्' धातु के विधान के लिए है।

१०. चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि २।३।६२॥ षष्ठी स्यात्। 'पुरुषमृगश्चन्द्रमसः'। 'गोधा कालका दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्'। वनस्पतिभ्य इत्यर्थः। (वा०) षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्। 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः'।

वेद में चतुर्थी के अर्थ में विविधरूप से षष्ठी होती है। यथा—'पुरुषमृगश्चन्द्रमसः (चन्द्रमा के लिए पुरुषमृग चाहिये) यहाँ 'चन्द्रमसः' में षष्ठी हुई है जो चतुर्थी के अर्थ में है। 'गोधा कालका दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्'। (तुम्हारे वनस्पतियों के लिए गोधा = गोह, कालका = पक्षिविशेष, दार्वाघाटः = कठफोड़वा चाहिये [जिससे वे नष्ट हो जायँ]) यहाँ वनस्पतीनाम् का अर्थ है—वनस्पतिभ्यः अर्थात् षष्ठी, चतुर्थी के अर्थ में हुई है।

'षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्'–इस वार्तिक द्वारा कहते हैं कि षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी होती है। यथा—'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः (जो विकल अंग से पीती है उसके विकलाङ्ग पुत्र उत्पन्न होता है) यहाँ 'तस्यै' का अर्थ है 'तस्याः' अर्थात् चतु र्थी, षष्ठी के अर्थ में हुई है।

११. यजेश्च करणे २।३।६३॥ इह छन्दसि बहुलं षष्ठी। 'घृतस्य घृतेन वा यजते'।

यज् धातु के करणकारक में बहुलरूप से षष्ठी होती है। यथा—घृतस्य घृतेन वा यजते (घी से यज्ञ करता है) यजन क्रिया का करण घृत है उससे षष्ठी हुई (घृतस्य) और तृतीया भी (घृतेन)।

१२. बहुलं छन्दसि २।४।३९॥ अदो घस्लादेशः स्यात्। घस्तां नूनम्। लुङि 'मन्त्रे घस०' इति च्लेर्लुक्। अडभावः। सग्धिश्च मे।

लोक में अद्धातु का 'लुङ्सनोर्घस्लृ' (२।४।३७) सूत्र द्वारा लुङ् और सन् में 'घस्लृ' आदेश होता है, लृकार इत्संज्ञक है। वेद में अद् धातुका घस्लृ (घस्) आदेश वहुलरूप से होता है। यथा घस्ताम् नूनम्। अद् धातु से लुङ्-लकार प्रथम पुरुष द्विवचन में तस् विभक्ति को 'ताम्' होने पर 'अद्+ताम्' इस स्थिति में 'वहुलं छन्दसि' प्रकृत सूत्र से अद् का घस्लृ (घस्) आदेश हुआ। 'च्लि लुङि' (३।१।४३) से हुए 'च्लि' का 'मन्त्रे घस'—(२।४।८०) सूत्र से लुक् तथा 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (६।४।७५) से अट् का अभाव हो गया, इस प्रकार 'घस्ताम्' पद सिद्ध होता है।

इस उदाहरण में तो 'लुङ्सनोर्घस्लृ' (२।४।३७) सूत्र से ही घस् सिद्ध है, इस लिए 'वहुलं छन्दसि' प्रकृत सूत्र का अन्य उदाहरण देते हैं—सग्धिश्च मे। अदनं ग्धिः, समाना ग्धिरिति सग्धिः (सहभोजन)। अद् धातु से क्तिन् होकर प्रकृतसूत्र से अद् का घस् हुआ–घस् ति। 'घसिभसोर्हलि च' (६।४।१००) के द्वारा 'घस्' के उपधा 'अ' का लोप—घ् स् ति। 'झलो झलि (८।२।२६) से झल् (स्) का लोप–घ्ति। 'झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) से त् को ध–घ्धि। 'झलां जश झशि' (८।४।५३) से झल् (घ्) को जश् (ग्) हो गया—ग्धि। यहाँ यह शंका नहीं की जानी चाहिए कि जश्त्व करते समय 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' (१।१।५७) के द्वारा अलोप का स्थानिवद्भाव हो जायगा इस प्रकार झश् (घ्) पर में न होने से झल् (घ्) का जश् (ग्) कैसे हो सकेगा, क्योंकि 'न पदान्तद्विर्वचन'—(१।१।५८) सूत्र के द्वारा जश्त्व-कार्य में स्थानिवद्भाव का निषेध है अतः जश् होने में कोई वाधा नहीं है। अव 'समाना ग्धिः' इस विग्रह में 'समान' शब्द के साथ समास करने पर 'समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु' (६।३।८४) सूत्र से 'समान' को 'स' हो गया।

१. हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च च्छन्दसि २।४।२८॥

द्वन्द्वः पूर्ववल्लिङ्गः। हेमन्तश्च शिशिरं च हेमन्तशिशिरौ। अहोरात्रे।

यद्यपि लोक में हेमन्तश्च शिशिरं च 'हेमन्तशिशिरे' होता है अर्थात् द्वन्द्व कर दिये जाने पर समस्त शब्द 'हेमन्तशिशिरे' नपुंसक हो गया क्योंकि पर शब्द 'शिशिर' नपुंसक है ('परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' २।४।२६)। इसी

प्रकार लोक में अहश्च रात्रिश्च' इति अहोरात्रौ (इतरेतरद्वन्द्व) तथा अहश्च-रात्रिश्च तयोः समाहारः अहोरात्रः (समाहार द्वन्द्व) होता है । समास हो जाने पर 'अहः सर्वैकदेश'—(५।४।८७) से समासान्त अच् होता है और 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' तथा 'स नपुंसकम्' इन दोनों सूत्रों को बाधित कर 'रात्राह्नाहाः पुंसि (२।४।२९) सूत्र पुंस्त्व का विधान करता है । किन्तु वेद में 'हेमन्तश्च शिशिरं च हेमन्तशिशिरौ' तथा 'अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रे' होता है अर्थात् इन दोनों समस्त पदों का लिङ्ग पूर्व शब्द के लिङ्ग के अनुसार होता है, पर शब्द के लिङ्ग के अनुसार नहीं। 'हेमन्त' पूर्व शब्द के पुंल्लिङ्ग होने से पूरा समस्त पद पुंल्लिङ्ग हो गया—हेमन्तशिशिरौ । इसी प्रकार 'अहन्' पूर्वशब्द के नपुंसक होने से पूरा समस्त पद नपुंसक हो गया—अहोरात्रे । शेखर कार 'अहोरात्रे' के द्विवचन के विषय में कहते हैं—'द्वित्वमतन्त्रम् । 'अहोरात्राणि-विदधत् ।' अर्थात् वेद में 'अहोरात्राणि' भी मिलता है । द्वित्व अतन्त्र—अविवक्षित है—विचारणीय नियम की कोटि से बाहर की वस्तु है अतएव अनिवार्य रूप से बन्धन की कोटि में नहीं आता ।

१४. अदिप्रभृतिभ्यः शपः—बहुलं छन्दसि २।४।७३॥

वृत्रं हनति वृत्रहा । 'अहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः' । अत्र लुक् न । अदादिभिन्नेऽपि क्वचिल्लुक् । 'त्राध्वं नो देवाः' ।

अदादि धातुओं से परे शप् का वेद में बहुलरूप से लुक् (लोप) होता है। यथा—'वृत्रं हनति वृत्रहा ।' यहाँ हन् धातु से परे शप् (अ) विकरण का नियमतः लुक् होना चाहिये था किन्तु नहीं हुआ (लोक में 'हन्ति' होता है) । इसी प्रकार अहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः' । इस वाक्य में 'शयते' में भी 'शी' धातु से परे शप् (अ) का लुक् नहीं हुआ (लोक में 'शेते' होता है) । कहीं अदादि से भिन्न भी धातु से परे शप् का लुक् देखा जाता है । यथा—'त्राध्वं नो देवाः' में 'त्राध्वम्' । त्रै + अ + ध्वम् शप् का लुक्—त्रै + ध्वम् । 'आदेच उपदेशेऽशिति' (६।१।४५) से आत्त्व 'त्राध्वम् (लोट्, मध्यम-पुरुष बहुवचन का रूप) लोक में त्रायध्वम् ।

१५. जुहोत्यादिभ्यः श्लुः - बहुलं छन्दसि २।४।७६॥ 'दाति प्रियाणि चिद् वसु'। अन्यत्रापि-'पूर्णां विवष्टि'।

जुहोत्यादि धातुओं से परे शप् को 'श्लु' होता है, तत्फलस्वरूप 'श्लौ' सूत्र से द्वित्व होता है और द्वित्व होने पर अभ्यासकार्य । किन्तु वेद में ऐसा बहुलरूप से होता है ।

यथा--'दाति प्रियाणि चिद् वसु' में 'दाति'। 'दा' धातु से श्लु नहीं हुआ। (लोक में 'श्लु' होने से ददाति)। जुहोत्यादिधातुओं से भिन्न धातु में भी जहाँ 'श्लु' की प्रवृत्ति नहीं है, श्लु होता है। यथा-पूर्णां विवष्टि' में विवष्टि का प्रयोग। अदादिगणीय वश् (कान्तौ) धातु से परे शप् का श्लु हुआ। 'श्लौ' सूत्र से द्वित्व वश् वश् ति। हलादिः शेषः-व वश् ति । 'भृञामित्'-'बहुलं छन्दसि' से अभ्यास को इकार-विवश्ति। 'व्रश्चभ्रस्ज०' से शकार को षत्व-विवष्ति। 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व-विवष्टि। (लोक में वष्टि)।

१६. मन्त्रे घस-ह्वर-णश-वृ-दहाद्-वृज्-कृ-गमि-जनिभ्यो लेः २।४।८०॥ लिरिति च्लेः प्राचां संज्ञा। एभ्यो लेर्लुक् स्यान्मन्त्रे। 'अक्षन्नमी मदन्त हि'-घस्लादेशस्य 'गमहन०' ६।४।९८॥ इत्युपधालोपे 'शासिवसि०' ८।३।६० इति ष. 'माह्वर्मित्रस्य'। 'धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य'-'नशेर्वा' ८।२।६३॥ इति कुत्वम्। 'सुरुचो वेन आवः'। 'मा न आधक्'। आदित्याकारान्तग्रहणम्--'आप्रा द्यावापृथिवी'। 'परावर्ग् भारभृद्यथा'। 'अक्रन्नुषासः'। 'ते रयिं जागृवांसो अनुग्मन्'। मन्त्रग्रहणं ब्राह्मणस्याप्युपलक्षणम्--'अज्ञत वा अस्य दन्ताः। विभाषानुवृत्तेर्नेह--'न ता अगृभ्णन्नजनिष्ट हि षः'।

अद् भक्षणे के स्थान पर होने वाला घस् आदेश, ह्वृ कौटिल्ये, णश् अदर्शने, वृञ् वरणे, वृङ् संभक्तौ, दह भस्मीकरणे, आकारान्त प्रा पूरणे इत्यादि वृजी, वर्जने. डुकृञ् करणे, गम्लृ गतौ, जनी प्रादुर्भावे—इन धातुओं से परे लि (च्लि) का लुक् हो मन्त्र में। 'च्लि' को प्राचीन वैयाकरण 'लि' कहते थे। सूत्र में 'च्लि' के लिए उसी 'लि' का प्रयोग हुआ है। यथा—'अक्षन्नमीमदन्त हि' में अक्षन् का प्रयोग। 'अक्षन्' यह अद्धातु के लुङ् प्रथमपुरुष बहुवचन का रूप है। अद् लुङ् (झि)। 'लुङ्सनोर्घस्लृ' से घस् आदेश। अडागम-'झोऽन्तः' से झ् का अन्तादेश, 'इतश्च' से इकार का लोप प्रकृतसूत्र से 'च्लि' का लुक्। संयोगान्त 'त्' का लोप—अ+घस्+अन्। 'गमहन०' के द्वारा 'घस्' के उपधा 'अ' का लोप—अघ् स् अन्। 'झलां जश् झशि' से घ् का जश्त्व (ग्) तथा 'खरि च' से चर्त्व (क्)—अ क् स् अन्। 'शासिवसिघसीनां च' से स् का षत्व। क्+ष् = क्ष्—अक्षन्। लोक में 'अघसन्'।

मा ह्वः—मा + √ह्वृ + लुङ् (तिप्)—'इतश्च' से इकार का लोप। प्रकृतसूत्र से 'च्लि' का लुक्। 'सार्वधातुकयोः' से ऋ का गुण (अ) तथा रपरत्व (अर्) मा ह्वर्त्। 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' से त् का लोप। रेफ को विसर्ग—मा ह्वः। लोक में 'अह्वार्षीत्'।

प्रणक्—प्र + √नश् + लुङ् (तिप्)। प्रकृतसूत्र से च्लि का लुक्। 'इतश्च' से इकार का लोप। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' से अट् का अभाव। 'हल्ङ्याब्भ्यः—से त् का लोप-प्र + नश्। 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' से न् को णत्व। 'नशेर्वा' से श् को कुत्व (क्)—प्रणक्। 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व (ग्) 'वावसाने' से चर्त्व (क्)—प्रणक्। प्रणक् + मर्त्यस्य = प्रणङ्-मर्त्यस्य (यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा)। लोक में 'अनशत्'।

आवः—√वृ + लुङ् (तिप्)—प्रकृतसूत्र से 'च्लि' का लुक्। 'इतश्च' से इकारलोप। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से ऋ का गुण (अ)। रपरत्व। 'छन्दस्यपि दृश्यते' (६।४।७३) से आडागम। आवर्त्। 'हल्ङ्याब्भ्यः'—से त् का लोप। खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रेफ को विसर्ग—आवः। लोक में 'अवारीत्'।

मा न आधक्—माङ् पूर्वक दह धातु से लुङ् (तिप्)। माङ् के योग

में भी आट् का आगम—(बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि)। 'इतश्च' से इकार का लोप। 'दादेर्धातोर्घः' से ह् को घ् तब जश्त्व और चर्त्व–आ दक् त्। 'हलङ्याब्भ्यः' से न् का लोप। 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्यस्ध्वोः' से द् को ध्–आधक्। लोक में 'अधाक्षीत्'।

प्रकृत सूत्र में 'आत्' से आकारान्त 'प्रा पूरणे' आदि धातुओं का ग्रहण किया जाता है अतः आङ् पूर्वक 'प्रा' धातु से लुङ्–मध्यमपुरुष एक वचन की विभक्ति सिप्। 'च्लि लुङि' से हुए 'च्लि' का प्रकृत सूत्र से लुक्। आ+प्रा+सि—'इतश्च' से इकार का लोप। सकार का रुत्व-विसर्ग–आ प्राः–आ प्रास्+द्यावापृथिवी=आ प्रा द्यावापृथिवी (ससजुषोरुः' से रुत्व. 'भोभगो अघो अपूर्वस्य योऽशि' से रुत्व को यत्व, 'लोपः शाकल्यस्य से यकारल्लोप)। लोक में 'अप्रासीः'। आ+अप्रासीः='आप्रासीः'।

परावर्ग्—परा+वृज्+लुङ् (तिप्)। प्रकृतसूत्र से 'च्लि' का लुक्। 'पुगन्तलघूपधस्य च' से उपधा ऋ को गुण (अ)–रपरत्व–परा वर्जति। इतश्च' से इकार का लोप—'हल्ङ्याब्भ्य':–से तकार का लोप। 'चोः कुः' से कुत्व–परावर्ग। लोक में 'अवर्जीत्'। परा+अवर्जीत्=परावर्जीत्।

अक्रन्—कृ धातु से लुङ् (झि)–अडागम, 'झोऽन्तः' से झकार को अन्तादेश–अ कृ अन्ति। प्रकृतसूत्र से 'च्लि' का लुक्। झि 'ङित् है अतः 'ऋ' को गुण न होकर यण् (र्) हुआ। 'इतश्च' सूत्र से इकार का लोप, संयोगान्त तकार का लोप—अक्रन्। लोक में' अकार्षुः' 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' (३।४।१०९) के द्वारा 'झि' का जुस्)।

अनुग्मन्—अनु+गम्+लुङ् (झि=अन्ति) 'च्लि लुङि' से हुए 'च्लि' का प्रकृतसूत्र से लुक्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' से माङ् के अभाव में भी अट् का आगम नहीं हुआ। 'गमहन'—से 'गम्' के उपधा 'अ' का लोप। इतश्च से इकार लोप। 'संयोगान्तस्य लोपः' से 'त्' का लोप—अनुग्मन्। लोक में 'अगमन्—अनु+अगमन्=अन्वगमन्।

प्रकृतसूत्र में मन्त्र पद का जो ग्रहण किया है वह ब्राह्मण (वेद का भागविशेष) का भी [1]उपलक्षण है—अर्थात् मन्त्र शब्द 'संहिता' में रूढ होते हुए

१—स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वमुपलक्षणत्वम्।

भी यहाँ ब्राह्मण का भी बोधक है, अतः जन् धातु का उदाहरण ऐतरेय ब्राह्मण से दिया गया है—'अज्ञत वा अस्यदन्ताः'। अज्ञत—√जन् + लुङ् (झ)—अडागम—प्रकृतसूत्र से 'च्लि' का लुक्। 'आत्मनेपदेष्वनतः' से झ् को अत्—अजन् अत। 'गमहन०' से 'जन्' के उपधा 'अ' का लोप–अज्न् अत। चवर्ग के योग से तवर्ग (त्) का चवर्ग (ञ्) ज्+ञ्=ज्ञ्—अज्ञत। लोक में अजनिषत।

प्रकृतसूत्र में 'विभाषा' की अनुवृत्ति होने के कारण 'न ता अगृभ्णन्नजनिष्ट हि षः' में 'अजनिष्ट' पद का प्रयोग देखा जाता है—यहाँ 'च्लि' का लुक् नहीं हुआ, बल्कि जैसा लोक में होता है, वैसे ही 'च्लि' का सिच्, इडागम, षत्व, ष्टुत्व होकर 'अजनिष्ट' हो गया है।

इति द्वितीयोऽध्यायः।



१७. अभ्युत्सादयांप्रजनयांचिकयांरमयामकः पाव-यांक्रियाद् विदामक्रन्निति च्छन्दसि ३।१।४२ ॥ आद्येषु चतुर्षु लुङि आम् 'अकः' इत्यनुप्रयोगश्च । अभ्युत्सादयामकः—अभ्युदसीषदत् इति लोके । प्रजनयामकः—प्राजीजनदित्यर्थः । चिकयामकः—अचैषीदित्यर्थे चिनोतेराम्, द्विर्वचनं कुत्वं च । रमयामकः—अरीरमत् । पावयांक्रियात्—पाव्यादिति लोके । विदामक्रन्—अवेदिषुः ।

वेद में 'अभ्युत्सादयामकः', 'प्रजनयामक', 'चिकयामकः', रमयामकः,' 'पावयांक्रियात्' और 'विदामक्रन्' ये छः पद स्वयं (निपातन) से सिद्ध हैं। आदि के चार पदों में लुङ् होने पर निपातन से आम् प्रत्यय होता है (जो कि लोक में लिट्लकार में होता है) उसके वाद 'अकः' का अनु प्रयोग होता है। आशय यह है कि 'आम्' प्रत्यय निपातन से हो चुकने पर 'आमः' (२।४।८१) सूत्र से लावस्था में ही लुङ् का लुक् हो जाता है, तब लुङ्परक कृ का अनुप्रयोग होता है जिसकी परिणति 'अकः' के रूप में होती है।

अभ्युत्सादयामकः—अभि+उत्+णिजन्त सद् (सादि) धातु से लुङ् होने पर निपातन से 'आम्' हुआ और 'आमः' (२।४।८१) से लावस्था में ही लुङ् का लुक् हो गया। 'अभ्युत्सादि आम्' इस स्थिति में 'आम्' के आर्ध-धातुक होने से 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्र से इकार का गुण 'ए' हो गया और 'एचोऽयवायावः' से 'ए' का अय् आदेश होने पर 'अभ्युत्सादयाम्' वन गया। अब लुङ् परक कृ+अनुप्रयोग हुआ। 'अभ्युत्सादयाम्+कृ+लुङ्' इस स्थिति में प्रथम पुरुष एक वचन में तिप् (ति) लादेश हुआ। 'च्लि लुङि' से 'च्लि' होने पर 'मन्त्रे घसह्वर'—सूत्र १६ के द्वारा उसका लुक् हो गया। 'लुङ् लङ् ऌङ्क्ष्वडुदात्तः' से 'कृ' के अट् का आगम हुआ। तिप् के सार्वधातुक होने से ऋ को गुण (अर्) हो गया। 'ति' के इकार का 'इतश्च' से लोप और 'त्' का 'हल्ङ्याब्भ्यः'—से लोप होने पर 'रेफ' का 'खरवसानयोर्विसर्ज-नीयः' से विसर्ग होकर 'अकः' बना—अभ्युत्सादयाम्+अकः=अभ्युत्सादया-

मकः । लोक में अभ्युदसीषदत् । 'च्लि लुङि' से च्लि होने पर उसका 'चङ्' (अ) हो जायगा । 'णेरनिटि' से 'णिच् (इ) का लोप । 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्व' से ह्रस्व होकर साद् का सद् । अट्का आगम, 'चङि' से सद्' का द्वित्व,'हलादिः शेषः' से आदि हल् का शेष, 'सन्वल्लघुनि'---से सन्वद्भाव होने से 'सन्यतः' सूत्र से पूर्व 'स' मे वर्तमान 'अ' को 'इ' फिर उसे 'दीर्घो लघोः' से दीर्घ (ई)। 'सद्' धातु षोपदेश है अतएव परसकार (जो आदेश है) का 'आदेश प्रत्यययोः से षत्व हो गया--इस प्रकार 'अभ्युदसीषदत्' पद सिद्ध होता है । यह अवधेय है कि प्रकृत सूत्र में 'विदांकुर्वन्त्वित्यन्तरस्याम्' (३।१।४१) सूत्र से 'अन्यतर-स्याम्' की अनुवृत्ति होती है अतः वेद में भी 'अभ्युदसीषदत्' यह पाक्षिक रूप होगा[1] (सुबोधिनीकार) । इसी तरह 'प्राजीजनत्' के स्थान में 'प्रजनयामकः' होता है । प्र+√जन्+णिच् (इ) इस स्थिति में 'अत उपधायाः' सूत्र से 'जन्' के उपधा 'अ' की वृद्धि 'आ'—प्रजानि । 'जनीजॄष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च' (गणसूत्र १८८) के अनुसार-'जन्' धातु मित्संज्ञक है अतएव 'मितां ह्रस्वः' (६।४।९२) के द्वारा उपधा 'आ' का ह्रस्व हो जाने से ण्यन्त का स्वरूप 'प्रजनि' होगा । रूपसिद्धि की शेष सारी प्रक्रिया पूर्ववत् होगी ।

'अचैषीत्' के अर्थ में 'चिकयामकः' होता है । 'चि' धातु से लुङ् होनेपर निपातन से आम् । 'आमः' सूत्र से लावस्था में ही लुङ् का लुक् । निपातन से 'चि' का द्वित्व और पर चकार का कुत्व । 'चिकि आम्' इस स्थिति में 'आम्' के आर्धधातुक होने से 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्र से 'इ' को गुण 'ए'— चिके आम् । 'एचोऽयवायावः' से 'ए' का अयादेश—चिकयाम् । चिकयाम् + अकः (कृ+लुङ्)=चिकयामकः । लोक में 'च्लि' का सिच् (स्) । अट् का आगम, तिप् के ईट् का आगम (अस्तिसिचोऽपृक्ते) 'सिचि वृद्धिःपरस्मैपदेषु' से वृद्धि (इ को ऐ)--'अचैषीत्' रूप होता है ।

इसी प्रकार 'अरीरमत्' के स्थान पर 'रमयामकः' होता है । रम् धातु अमन्त होने से 'जनीजॄष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च' (गणसूत्र १८८) के अनुसार मित्संज्ञक है अतएव 'अत उपधायाः' से वृद्धि होकर 'प्रजान्+इ' बनने पर मितां ह्रस्वः' से उपधा 'आ' का ह्रस्व होकर ण्यन्त का स्वरूप 'रमि'

१. वेदेऽपि पाक्षिकमिदं बोध्यम् 'विदाङ्कुर्वन्तु'—इति सूत्रादन्यतरस्यां ग्रहणानुवृत्तेः ।

होगा। रूप सिद्धि की शेष सारी प्रक्रिया 'अभ्युत्सादयामकः' (उदाहरण नं० १) की तरह ही होगी।

पावयांक्रियात्=–√पू + णिच् + आम्––उ को औ वृद्धि (अचोञ्णिति)–– आव् आदेश (एचोऽयवायावः)––पावयाम् + क्रियात् (आशीर्लिङ्)––पावयां क्रियात्। लोक में पाव्यात्।

विदामक्रन्—विद् धातु से लुङ् होने पर प्रकृतसूत्र के द्वारा निपातन से आम् तथा गुणाभाव, 'आमः' सूत्र से लावस्था में ही लुङ् का लुक्। तब लुङ् परक 'कृ' का अनुप्रयोग। विदाम् कृ लुङ्—प्रथम पुरुष वहुवचन में 'झि' लादेश, झ् का अन्त् आदेश, अट् का आगम, 'सार्वधातुकमपित्' से 'झि' ङित् है, अतः गुण न होकर 'कृ' के ऋ का यण् 'र' हो गया। 'इतश्च' से इकार का लोप, संयोगान्त तकार का लोप––विदामक्रन्। लोक में 'अवेदिषुः'।

१८. गुपेश्छन्दसि ३।१।५०॥ च्लेश्चङ् वा। गृहानजूगुपतं युवम्। अगोप्तमित्यर्थः।

वेद में 'गुपू रक्षणे' धातु, के 'च्लि' को विकल्प से 'चङ्' होता है। यह अवधेय है कि 'आयादय आर्धधातुके वा' (३।१।३१) के अनुसार आयादि प्रत्यय आर्धधातुक की विवक्षा में विकल्प से होते हैं और प्रकृत सूत्र में केवल 'गुप्' का निर्देश है अतः सिद्ध है कि आय प्रत्यय के अभावपक्ष में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होगी।

उदाहरण––गृहानजूगुपतं युवम् (तुम दोनों ने घरों की रक्षा की) गुप् धातु से लुङ् होने पर 'च्लि लुङि' से हुए च्लि को विकल्प से चङ्, च् और ङ् की इत्संज्ञा। मध्यमपुरुष वहुवचन में 'थस्' लादेश, 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' से थस् का तम्, अट् का आगम–अ + गुप् + अ + तम् इस स्थिति में 'चङि' सूत्र से द्वित्व, आदिहल् का शेष, कुहोश्चुः' सूत्र से अभ्यास कवर्ग (ग्) का चवर्ग (ज्)–अ + जुगुप् + अ + तम्। 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (६।१।७) सूत्र से अभ्यास को दीर्घ–अजूगुपतम्। च्लि को जब चङ् नहीं होगा तब च्लि को सिच् होगा और चूँकि गुप् धातु ऊदित है अर्थात् गुपू' में ऊ की इत्संज्ञा हुई है अतः 'स्वरतिसूति'—सूत्र के अनुसार इट् विकल्प से होगा। इट् के

अभाव पक्ष में 'अगुप् + स् + तम्' इस स्थिति में 'वदव्रजहलन्तस्याचः' सूत्र से वृद्धि—अगौप् + स् + तम्। 'झलो झलि' सूत्र से स् का लोप—अगौप्तम्। इट् होने पर 'नेटि' सूत्र के द्वारा वृद्धि का निषेध हो जायगा तब 'पुगन्त लघूपधस्य च' सूत्र से उपधा 'उ' को गुण 'ओ' हो जायगा—'अ गोपि स् तम्' इस स्थिति में 'आदेश प्रत्यययोः' सूत्र से सकार का षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकार—अगोपिष्टम्।

आय प्रत्यय जब होगा तब 'अगोपायिष्टम्' होगा। इस प्रकार वेद में इसके चार रूप होते हैं—अजूगुपतम्, अगौप्तम्, अगोपिष्टम्, अगोपायिष्टम्। लोक में केवल तीन (अर्थात् 'अजूगुपतम्' को छोड़कर)।

१९. नोनयतिध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्यः ३।१।५१॥

च्लेश्चङ् न। 'मा 'त्वायतो जरितुः काममूनयीः।' 'मा त्वाग्निर्ध्वनयीत्।'

णिजन्त में च्लि को चङ् होता है (णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्) किन्तु वेद में 'ऊन' परिहाणे, 'ध्वन्' शब्दे, 'हल' प्रेरणे' 'अर्द' गतौ याचने च इन णिजन्त धातुओं के बाद च्लि को चङ् नहीं होता है।

ऊनयीः—ऊन् + णिच् + लुङ् (सिप्)—'च्लि लुङि' से च्लि। 'णिश्रि'सूत्र से प्राप्त चङ् का प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाने से च्लि को सिच् (स्) हो गया। वाक्यगत माङ् (मा) का सम्बन्ध ऊन धातु से है अत एव 'न माङ्योगे' सूत्र के अनुसार आट् का आगम नहीं हुआ—'ऊनि + स् + सि' इस स्थिति में 'सिच्' को इट् का आगम—(आर्धधातुकस्येड्वलादेः')। 'नि' के 'इ' को गुण (ए) और 'ए' को अय्—उन् + अय् + इ + स् + सि। 'इतश्च' सूत्र से 'सि' के इकार का लोप तथा 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से ईट् का आगम—ऊनय् इ स् ई स्। 'इट ईटि' से सिच् वाले स् का लोप, अन्तिम 'स् का रुत्व-विसर्ग—ऊनयीः। लोक में 'औननत्'। उसी तरह वेद में णिजन्त ध्वन का रूप ध्वनयीत् (तिप् में)। लोक में घटादि ध्वन से 'अदिध्वनत्' और चुरादि ध्वन से 'अदध्वनत्' होता है। णिजन्त 'हल' धातु से वेद में 'ऐलयीत्' लोक में 'ऐलिलत्'। णिजन्त 'अर्द' धातु से वेद में 'आर्दयीत्' लोक में 'आर्दिदत्'।

२०. कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि ३।१।५९ ॥ च्लेरङ् वा' 'इदं तेभ्योऽकरं नमः ।' अमरत् । अदरत् 'यत्सानोः सानुमारुहत् ।'

वेद में 'डुकृञ् करणे', 'मृङ् प्राणपरित्यागे', 'रुह' बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च' धातुओं से 'च्लि' को 'अङ्' विकल्प से होता है । यथा—'इदं तेभ्योऽकरं नमः' वाक्य में 'अकरम्' का प्रयोग है । अ + कृ + (च्लि को) अङ् + मिप् (=अम्)– 'ऋदृशोऽङि गुणः' (७।४।१६) सूत्र से 'ऋ' को गुण (अर्)–अकरम् । लोक में 'अकार्षम्' होगा । इसी प्रकार 'मृङ्प्राणपरित्यागे' धातु से वेद में 'अमरत्' होगा (लुङि प्रथमपुरुषैकवचने) । यहाँ यह भी जान लेना चाहिये कि 'मृ' धातु आत्मनेपदी होकर भी-वेद में परस्मैपद में प्रयुक्त है । लोक में 'अमृत' होता है अर्थात् च्लि को सिच् और सिच् का 'ह्रस्वादङ्गात्' सूत्र से लोप । इसी प्रकार 'दृ' धातु का वेद में 'अदरत्' लोक में 'अदारीत्' होता है । 'रुह्' का वेद में 'अरुहत्' और लोक में च्लि' को 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (३।१।४५) के अनुसार 'क्स' होने से 'अरुक्षत्' होता है ।

२१. छन्दसि निष्टर्क्यदेवहूयप्रणीयोन्नीयोच्छिष्यमर्यस्तर्याध्वर्यखन्यखान्यदेवयज्यापृच्छ्यप्रतिषीव्यब्रह्मवाद्यभाव्यस्ताव्योपचाय्यपृडानि ३।१।१२३ ॥ कृन्ततेर्निस्पूर्वात्क्यपि प्राप्ते ण्यत् । आद्यन्तयोः विपर्यासो निसः षत्वं च । 'निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः ।' देवशब्दे उपपदे ह्वयतेर्जुहोतेर्वा क्यप् दीर्घश्च । 'स्पर्धन्ते वा उ देवहूये ।' प्रउत् आभ्यां नयतेः क्यप्—प्रणीयः, उन्नीयः उत्पूर्वाच्छिषेः क्यप्—उच्छिष्यः । मृङ्स्तृञ्ध्वृभ्यो यत्—मर्यः । स्तर्या-स्त्रियामेवायम् । ध्वर्यः । खनेर्यण्यतौ—खन्यः, खान्यः । यजेर्यः—'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै ।' आङ्पूर्वात्पृच्छेः क्यप् । 'आपृच्छ्यं धरुणं वाज्यर्षति ।' सीव्यतेः

क्यप् षत्वं च—प्रतिषीव्यः। ब्रह्मणि वदेर्ण्यत्—ब्रह्मवाद्यम्। लोके तु 'वदः सुपि क्यप् च' ३।१।१०६ इति क्यब्यतौ। भवतेः स्तौतेश्च ण्यत्—भाव्यः, स्ताव्यः। उपपूर्वाच्चिनोतेर्ण्यत् आयादेशश्च पृडे उत्तरपदे—उपचाय्यपृडम्। (वा०) 'हिरण्य इति वक्तव्यम्'। उपचेयपृडमन्यत्। 'मृड' सुखने 'पृड' च—इत्यस्माद् इगुपधलक्षणः कः॥

ये कृत्यप्रत्ययान्त शब्द वेद में निपातन से सिद्ध हैं—

निष्टर्क्यम्—निस् + √कृत् धातु से 'ऋदुपधाच्चाक्लृपि चृतेः'(३।१।११०) के अनुसार प्राप्त क्यप् के स्थान पर 'ण्यत्'—निस् + कृत् + य, उपधा 'ऋ' को गुण (अर्) निस् + कर्त्य। वर्णविपर्यय—'क्' के स्थान पर 'त्' और 'त्' के स्थान पर क् तथा स् का षत्व—ये सब निपातन से। निष् + तर्क्य, ष्टुत्वकार्य →निष्टर्क्य →निष्टर्क्य + अम् विभक्ति—निष्टर्क्यम् (अमिपूर्वः)। देवहूये—देव + ह्वे अथवा हु + क्यप् (दीर्घ)—देवहूय कृत्यप्रत्यान्त शब्द बनता है, सप्तमी एकवचन में देवहूये।

प्रणीयः, उन्नीयः—प्र + नी, उत् + √नी से क्यप्—प्रणीय + सु (विभक्तिः) प्रणीयः, उन्नीयः। उच्छिष्यः—उत् + √शिष् + क्यप्—उच्छिष्यः (प्रथमा एकवचन)

मृ, स्तृ, ध्वृ से यत्—√मृ + यत् = मर्यः। स्तृ + यत् + टाप् (सदा स्त्रीलिङ्ग) स्तर्या। ध्वृ + यत् = ध्वर्यः। खन् धातु से यत् और ण्यत्—√खन् + यत्=खन्यः।√खन् + ण्यत्, उपधा को वृद्धि (अत उपधायाः)—खान्यः।

देवयज्यायै—यज् धातु से 'य' प्रत्यय। देव + √यज् + य + टाप् (स्त्रियाम्) देवयज्या। चतुर्थी के एकवचन में देवयज्यायै।

आङ् पूर्वक प्रच्छ धातु से क्यप्—आ + √प्रच्छ + क्यप्, 'ग्रहिज्या'—के अनुसार सम्प्रसारण। आ पृच्छ्यम्।

प्रतिषीव्यः—प्रति + √सिव् से क्यप्, 'हलिच' (८।२।७७) सूत्र के अनुसार उपधा को दीर्घ, षत्व—प्रतिषीव्यः।

'ब्रह्मन्' उपपद में होने पर वद् धातु से ण्यत्—ब्रह्म + √वद् + ण्यत्, उपधा को वृद्धि (आ) ब्रह्मवाद्यम्। लोक में 'वदः सुपि क्यप् च' सूत्र से सुबन्त

उपपद होने पर क्यप् और यत्—क्यप् होने पर वद् धातु के यजादि होने के कारण 'वचिस्वपि यजादीनां किति' (६।१।१५) से सम्प्रसारण हो जायगा—ब्रह्मोद्यम् । यत् होने पर ब्रह्मवद्यम् ।

'भू' और 'स्तु' धातु से ण्यत्—√भू + ण्यत् (य)–वृद्धि (अचोञ्णिति)–भौ + य—'वान्तो यि प्रत्यये' के अनुसार औ को आव्, विभक्ति कार्य—भाव्यः । इसी प्रकार √स्तु + ण्यत् = स्ताव्यः ।

उप पूर्वक 'चि' धातु से ण्यत् प्रत्यय और आय् आदेश होता है 'पृड' के उत्तर पद होने पर—उपचाय्यं च तत्पृडम्—उपचाय्यपृडम् (कर्मधारयसमास) उप + √चि + ण्यत्, आयादेश = उपचाय्यपृडम् । किन्तु 'हिरण्य इति वक्तव्यम्' इस वार्तिक के अनुसार ऐसा हिरण्य के अभिधेय होने पर होता है, उससे भिन्न अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होने से उपचेयपृडम् । 'मृड सुखने पृड च' ऐसा धातुपाठ में मिलता है—पृड् धातु से 'इगुपधज्ञा प्रीकिरः कः' सूत्र से 'प्रत्यय होकर पृड' शब्द बना है ।

२२. छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् ३।२।२७ ॥ एभ्यः कर्मण्युपपदे इन् स्यात् । 'ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिम्' । उत नो गोषणिं धियम्' । 'ये पथां पथिरक्षयः' 'चतुरक्षौ पथिरक्षी', 'हविर्मथीनामभि' ॥

वेद में, कर्म के उपपद में रहने पर वन्, सन्, रक्ष् और मथ् धातु से इन् प्रत्यय होता है । यह अवधेय है कि वन् और सन् इन दोनों धातुओं का पाठ दो गणों में मिलता है । एक तो भ्वादिगण में (वन् षण सम्भक्तौ) और दूसरे तनादि में (वनु याचने, षणुदाने जो उकार अनुबन्ध से युक्त हैं) । प्रकृत सूत्र में भ्वादिगणीय वन् और सन् धातु का ही ग्रहण समझना चाहिये क्योंकि इनका निर्देश भ्वादिगणीय रक्ष और मथ धातु के साथ किया गया है, दूसरे यदि तनादिगणीय धातुओं का ग्रहण अभीष्ट होता तो सूत्र में धातुओं का उल्लेख उनके अनुबन्ध 'उ' के सहित किया जाता ।

उदाहरण—'ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिम्' । (ब्राह्मणों और क्षत्रियों की भक्ति करने वाले आपको)—ब्रह्मवनतीति ब्रह्मवनिस्तम् ब्रह्मवनिम् । इसी प्रकार

क्षत्रं वनतीति क्षत्रवनिस्तं क्षत्रवनिम्। ब्रह्मन् + √वन् से प्रकृत सूत्र से इन् प्रत्यय (इ प्रत्यय) 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से 'ब्रह्मन्' के नकार-लोप—ब्रह्मवनिः, द्वितीया के एकवचन में ब्रह्मवनिम्। इसी प्रकार 'क्षत्र-वनिम्'। 'उतनो गोषणिं धियम्' (गौ की भक्ति करने वाली हमारी बुद्धि को)–गां सनतीति गोषणिस्ताम् गो + √सन् धातु से प्रकृत सूत्र से इन् (इ), षत्व-गोषणिः, द्वितीया एक वचन में 'गोषणिम्'।

विमर्शः—'गोषणिः' में षत्व का विधान सुबोधिनीकार 'सुषामादिषु च' (८।३।९८) सूत्र के द्वारा मानते हैं। शेखरकार नागेश इसका खण्डन करते हैं। नागेश जी के कथन का आशय इस प्रकार है—षत्वविधान का प्रमुख सूत्र है 'सनोतेरनः' (८।३।१०८) जो अनकारान्त सन् धातु के 'स्' को 'ष्' करता है, जैसे 'गोषाः', 'नृषाः' वहीं यह भी दिया गया है—'अनः किम् ? गोसनिः'। अर्थात् नकारान्त सन् का निषेध इसी लिए किया गया है ताकि 'गोसनिः' में षत्व न हो। महाभाष्यकार को भी 'गोसनिः' में षत्व अभीष्ट नहीं है क्योंकि 'सनोतेरनः' सूत्र पर उनका वचन मिलता है—'गोसनिशब्दस्य सवनादिषु पाठः करिष्यते'। इस वचन में 'गोषणि' न कह कर 'गोसनि' कहना सिद्ध करता है कि महाभाष्यकार को षत्व अभीष्ट नहीं है इसलिए सुबोधिनीकार का 'सुषामादिषु च' सूत्र से षत्व का विधान भाष्यविरुद्ध होने से युक्त नहीं है। तब आखिर प्रकृत उदाहरण में षत्व हुआ कैसे ? वैदिक सम्प्रदाय में दन्त्य (स्) का मूर्धन्य (ष्) पाठ होता है। ऐसा केवल संहितापाठ में होता है अतएव पदपाठ के समय दन्त्य ही पढ़ते हैं—गो-सनिम्।

'रक्ष्' धातु का उदाहरण—'ये पथां पथिरक्षयः' (जो मार्गों के पथ-रक्षक हैं)।

पन्थानं रक्षन्तीति पथरक्षयः। पथिन् + √रक्ष् से प्रकृतसूत्र द्वारा इन् (इ)—पथिरक्षि + जस् विभक्ति = पथिरक्षयः।

'चतुरक्षौ पथिरक्षी'। पन्थानं रक्षत इति पथिरक्षी। इन् प्रत्यय होने से 'पथिरक्षि' बना और प्रथमाद्विवचनान्त रूप पथिरक्षी हुआ। (चार पहिये वाले दोनों मार्गरक्षक)।

मथ् धातु का उदाहरण—'हविर्मथीनामभि' । (हविर्मन्थन करने वालों की तरफ) । हविर्मन्थन्तीति हविर्मथयस्तेषाम् । हविस् + √मथ् से प्रकृतसूत्र द्वारा इन् (इ) होकर हवि- र्मथि शब्द बना, उससे षष्ठी बहुवचन (आम्) विभक्ति होने पर हविर्मथीनाम् ।

२३. छन्दसि सहः ३।२।६३ ॥ सुप्युपपदे सहेर्ण्विः स्यात् पृतनाषाट् ॥

२४. वहश्च ३।२।६४ ॥ प्राग्वत् । दित्यवाट् । योगविभाग उत्तरार्थः ।

वेद में सुवन्त पद के उपपद में होने पर सह् धातु और वह् धातु से ण्वि-प्रत्यय होता है । ण्वि का सर्वापहारी लोप हो जाता है—'चुटू' सूत्र से 'ण्' का और 'वेरपृक्तस्य से 'वि' का लोप होता है । पृतनां सहत इति पृतनाषाट् । पृतना + √सह् से 'छन्दसि सहः' सूत्र के द्वारा ण्वि प्रत्यय । णलोप, 'अतउपधायाः' सूत्र से उपधावृद्धि, 'वेर पृक्तस्य' से 'वि' का लोप । पृतनासाह् को 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिकत्वात् 'सु'विभक्ति । 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' से सुलोप । 'ह्लोढः' सूत्र से 'ह्' को 'ढ्', 'झलांजशोऽन्ते' सूत्र से 'ढ्' को जश् (ड्) 'सहेः साडः सः' सूत्र से षत्व । पृतनाषाड् । वाऽवसाने' सूत्र से 'झल्' (ड्) को विकल्प से चर् (ट्) पृतनाषाट् (चर्त्वाभाव में पृतनाषाड्) । इसी प्रकार दित्यं वहतीति दिव्यवाट् । दिव्य + वह् + ण्विः ('वहश्च' सूत्र से) । ण्वि का सर्वापहारीलोप; उपधावृद्धि, ढत्व, जश्त्व, विकल्प से चर्त्व करने पर दिव्यवाट् (पक्ष में दिव्यवाड्)

प्रश्न हो सकता है कि वह् धातु से भी जब 'ण्वि' प्रत्यय ही होता है तो पूर्वसूत्र 'छन्दसि सहः' में ही वह् धातु का भी पाठ कर देना चाहिये था, अलग 'वहश्च'सूत्र की क्या आवश्यकता ? यदि 'वहश्च'सूत्र अलग न करते तो अगले दो सूत्रों में सह् और वह् दोनों धातुओं की अनुवृत्ति चलने लगती, जबकि केवल 'वह्' की अनुवृत्ति हमें अभीष्ट है, केवल 'वह्' की अनुवृत्ति हो, इसके लिए 'वहश्च' सूत्र अलग करना पड़ा ।

२५. कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट् ३।२।६५ ॥ एषु वहेर्ञ्युट् स्याच्छन्दसि । कव्यवाहनः । पुरीषवाहनः । पुरीष्यवाहनः ॥

काव्य, पुरीष और पुरीष्य के उपपद में होने पर 'वह्' धातु से वेद में ञ्युट् प्रत्यय होता है। यथा—कव्यं वहति-कव्यवाहनः। कव्य + √वह् से प्रकृतसूत्र द्वारा ञ्युट्। 'चुटू' से 'ञ्' को और 'हलन्त्यम्' से 'ट्' की इत्संज्ञा होकर 'तस्य लोपः'। शेष रह गये 'यु' का 'युवोरनाकौ' सूत्र से 'अन' हो गया। ञ्युट् प्रत्यय के ञित् होने के कारण 'अत उपधायाः' सूत्र के अनुसार 'वह्' की उपधा 'अ' की वृद्धि 'आ'। विभक्तिकार्य होने पर 'सु' का रुत्व-विसर्ग—कव्यवाहनः। इसी प्रकार पुरीषं वहतीति पुरीषवाहनः तथा पुरीष्यं वहतीति पुरीष्यवाहनः की भी सिद्धि कर लेनी चाहिये।

२६. हव्येऽनन्तःपादम् ३।२।६६॥ 'अग्निश्च हव्यवाहनः'। पादमध्ये तु 'वहश्च' इति ण्विरेव—हव्यवाळग्निरजरः पिता नः'।

सूत्र में 'अनन्तः पादम्' का अर्थ है—न पादस्य मध्ये—पाद के मध्य में नहीं। हव्य शब्द के उपपद में होने पर भी वह् धातु से ञ्युट् प्रत्यय हो किन्तु ऐसा तभी होता है जबकि इससे निष्पन्न शब्द पाद के बीच में न हो अर्थात् अन्त में हो। यथा—'अग्निश्च हव्यवाहनः' इस अष्टाक्षर गायत्री छन्द के पाद के अन्त में 'हव्यवाहनः' शब्द की स्थिति है अतः प्रकृत सूत्र से यहाँ ञ्युट् प्रत्यय हुआ है। पाद के मध्य में स्थित होने पर तो 'वहश्च' सूत्र से 'ण्वि' प्रत्यय ही होता है—हव्यवाट्। 'हव्य वाळग्निरजरः पिता नः' (हमारे पिता अग्नि अजर हैं, हव्य वहन करने वाले हैं)। हव्यवाट् + अग्नि = हव्यवाडग्निः—हव्यवाळग्निः। वेद के नियमानुसार 'ड्' दो स्वरों के बीच में होने से 'ळ' हो गया 'द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः' ऐसा प्रातिशाख्य में विधान है।

२७. जनसनखनक्रमगमो विट् ३।२।६७॥ 'विड्वनोः०' ६।४।४१॥ इति आत्वम्। अब्जाः। गोजाः। 'गोषा इन्द्रो नृषा असि'। 'सनोतेरनः' ८।३।१०८॥ इति षत्वम्। 'इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्'। 'आ दधिक्राः शवसा पञ्च कृष्टीः'। अग्रेगाः।

सूत्रार्थ—किसी सुबन्त पद के उपपद में रहने पर जन् (जुहोत्यादिगणीय और दिवादिगणीय), सन् (भ्वादिगणीय और तनादिगणीय) खन्, क्रम् और गम् धातु से वेद में विट् प्रत्यय होता है। शेखरकार के अनुसार किसी उपसर्ग के भी उपपद में होने पर ऐसा होता है—'उपसर्गे सुपि चोपपदे एभ्यश्छन्दसि विट्।

अप्सु जायते इति अब्जाः। अप्+√जन् से प्रकृत सूत्र द्वारा विट् प्रत्यय। विट् का सर्वापहारी लोप ('हलन्त्यम्' सूत्र से ट् की इत्संज्ञा होने से लोप और 'वि' का 'वेरपृक्तस्य' से)। 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' सूत्र के अनुसार 'जन्' के अनुनासिक (नकार) को 'आ'। 'अप् ज आ' इस स्थिति में 'झलां जशोन्ते' सूत्र से झल् (प्) का जश् (ब) तथा अ+आ=आ (सवर्ण दीर्घ) अब्जा, सुविभक्ति आने पर रुत्वविसर्ग होकर-अब्जाः। इसी प्रकार गोजाः (गौसे उत्पन्न) की भी निष्पत्ति कर लेनी चाहिये। 'गोषा इन्द्रो नृषा असि (तुम इन्द्र, गायों और मनुष्यों का दान करने वाले हो) गोषाः—गां सनोतीति गोषाः। गो+√सन् से प्रकृतसूत्र द्वारा विट्, विट् का सर्वापहारीलोप, 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' से 'न्' को 'आ' सवर्ण दीर्घ-गोसा। 'सनोतेरनः' के अनुसार पूर्वपद में षत्व का निमित्त (इण् या क वर्ग) हो और उत्तरपद में सन् धातु का नकारान्तभिन्न रूप हो तो उसके स् को ष् हो जाता है अतः यहाँ षत्व हो गया; क्योंकि पूर्वपद 'गो' में षत्व का निमित्त इण् (ओ) है और 'सा' सन् का नकारान्तभिन्न रूप है। 'गोषा' से सुविभक्ति आने पर रुत्वविसर्ग होकर 'गोषाः' बन गया। ठीक इसी प्रकार नॄन् (मनुष्यान्) सनोतीति नृषाः, इस पद की भी सिद्धि होती है। इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्' वाक्य में प्रयुक्त 'बिसखाः' पद की भी सिद्धि इसी प्रकार से होती है—बिसं खनति खनते वा बिसखाः-बिस् + √खन् + विट् > बिस + खन् आत्व होकर बिस ख आ < बिसखा, बिसखा + सु विभक्ति = बिसखाः (कमल की जड़ खोदने वाला)। इसी प्रकार दधि + √क्रम् + विट्, आत्व = दधिक्राः। अग्रे + गम् + विट्, आत्व = अग्रेगाः। 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' (६।३।९) से सप्तमी का अलुक हुआ।

२८. मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन् ३।२।७१॥ (वा०) 'श्वेतवहादीनां डस्पदस्येति वक्तव्यम्'।

यत्र पदत्वं भावि तत्र ण्विनोऽपवादो ङस् वक्तव्यः इत्यर्थः। श्वेतवाः, श्वेतवाहौ। श्वेतवाहः। उक्थानि उक्थैः वा शंसति उक्थशा यजमानः। उक्थशासौ, उक्थशासः। पुरो दाश्यते दीयते पुरोडाः।

मन्त्र में 'श्वेत' उपपद वाले 'वह्' धातु 'उक्थ' उपपदवाले 'शस्' धातु, 'पुरः' उपपद वाले 'दाश्' (देना) धातु से ण्विन् प्रत्यय होता है। इस सूत्र में उपपद के साथ धातुओं का निपातन इस लिए किया गया है कि अन्य सूत्रों से न हो सकने वाले कार्य हो सकें क्योंकि वेद में केवल ऐसे ही पदों का प्रयोग देखा जाता है। वार्तिककार के अनुसार जहाँ पद संज्ञा होने की सम्भावना हो (जैसे 'सु' विभक्ति लगने पर उसके लोप होने की स्थिति में) वहाँ ण्विन् के स्थान पर उसका अपवाद 'ङस्' प्रत्यय हो जायगा। इसका फल होगा कि 'चुटू' सूत्र से 'ङ्' की इत्संज्ञा होने से 'ङस्' ङित् कहायेगा और ङित् होने के बल से भसंज्ञा न होने पर भी 'टि' का लोप हो जायेगा 'ङित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः'।

श्वेता एवं वहन्तीति श्वेतवाः (सूर्यः)। यहाँ कर्तृवाची श्वेत शब्द के उपपद में रहने पर वह धातु से कर्म कारक में 'ण्विन्' प्रत्यय होता है। चूँकि यहाँ पद संज्ञा की संभावना है अतः ण्विन् के स्थान पर उसका अपवाद 'ङस्' हो गया। 'ङकार' की 'चुटू' सूत्र से इत्संज्ञा होने से 'वह्' के टि (अह्) का लोप हो गया—श्वेत + व् + अस् = श्वेतवस्। अब सु विभक्ति आने पर उसका 'हल्ङ्याब्भ्यो'—सूत्र से लोप और 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' सूत्र से उपधा (वस् के अ) को दीर्घ—श्वेतवास्-सकार को रुत्व-विसर्ग-श्वेतवाः। श्वेतवाहौ, श्वेतवाहः आदि में चूँकि पद की संभावना नहीं है अतः ण्विन् हुआ है। ण्विन् में कुछ बचता नहीं है, न् की 'हलन्त्यम्' से, 'ण्' की 'चुटू' से इत्संज्ञा होती है, 'वि' का 'वेरपृक्तस्य' से लोप। णित् होने के कारण 'अत उपधायाः'-सूत्र से 'वह्' के उपधा 'अ' को वृद्धि 'आ' हुआ है।

उक्थानि उक्थैर्वा शंसतीति उक्थशाः। उक्थ शब्द का अर्थ है स्तोत्र। 'उक्थशाः' का अर्थ हुआ—स्तोत्रों की अथवा स्तोत्रों से स्तुति करने वाला। शंस् धातु का रूप है अर्थात् उपधा में 'न्' है जो अनुस्वार में परिवर्तित हो

गया है। यहाँ कर्म या करण के वाचक 'उक्थ' शब्द के उपपद रहने पर शंस् धातु से ण्विन् के स्थान पर डस्। टि 'अंस्' का लोप—उक्थ+श्+अश्= उक्थशस्, उक्थशस्+सु=उक्थशाः। उक्थशासौ, उक्थशासः आदि में ण्विन्। शंस् के 'न्' का लोप होने पर 'अत उपधायाः' से उपधा 'अ' का दीर्घ हो जायेगा।

पुरो दाश्यते इति पुरोडाः (जो सामने दिया जाय अर्थात् हवि)। पुरः पूर्वक दाश् धातु से कर्म में ण्विन् (पद की संभावना में डस्) प्रत्यय और दाश् के दकार को निपातन से डकार हुआ है। पुरो डाश्+डस् (अस्) 'टि (आश्) का लोप—पुरोडस्। पुरोडस्+सु (सुलोप, उपधादीर्घ, रुत्वविसर्ग)=पुरोडाः। पुरोडाशौ, पुरोडाशः आदि में ण्विन् होगा।

√२९. अवे यजः ३।२ ७२॥ अवयाः, अवयाजौ, अवयाजः।

'अव' उपसर्ग पूर्वक√यज् से भी ण्विन् और पदत्व की संभावना में उसका अपवाद 'डस्' प्रत्यय होता है। डस् होने पर अवयाः। ण्विन् होने पर अवयाजौ, अवयाजः इत्यादि। इनकी सिद्धि पूर्ववत् कर ली जाय।

'अवे यजः' सूत्र को पूर्वसूत्र 'मन्त्रे श्वेत'—में जोड़ा जा सकता था किन्तु इसको अलग इसलिये रक्खा गया ताकि अगले सूत्र 'विजुपे छन्दसि' (२।२।७३) में केवल√यज् का अनुवर्तन हो क्योंकि वहाँ उसी की आवश्यकता होती है। सबों के साथ रहने पर सबों का अनुवर्तन होता। इसलिये इस सूत्र का योग-विभाग किया गया है।

३०. अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च ८।२।६७॥ एते सम्बुद्धौ कृतदीर्घा निपात्यन्ते। चादुक्थशाः।

सम्बोधन के एकवचन में अवयाः, श्वेतवाः और पुरोडाः तथा 'च' से उक्थशाः भी होता है अर्थात् सम्बोधन के एकवचन में इनकी उपधा (अ) को निपातन से दीर्घ (आ) हो जाता है, क्योंकि इस कार्य के लिए 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' सूत्र की प्रवृत्ति यहाँ नही हो सकेगी, कारण उसमें सम्बुद्धि के उपधा-दीर्घ का निषेध किया गया है जब कि ये सम्बुद्धि के ही रूप हैं। इस प्रकार अवयाः, श्वेतवाः, पुरोडाः, उक्थशाः ये रूप प्रथमा और सम्बोधन दोनों के एकवचन में समान ही होते हैं। यह अभिप्राय है कि यह सूत्र अष्टम

अध्याय का है फिर भी यहाँ तृतीय अध्याय के सूत्रों के साथ प्रासङ्गिक होने के नाते दीक्षित जी ने लाकर रख दिया है।

३१. विजुपे छन्दसि ३।२।७३ ॥ उपे उपपदे यजेर्विच्। उपयट्।

वेद में 'उप' के उपपद में रहने पर 'यज्' धातु से विच् होता है। विच् का सर्वापहारी लोप होता है, उसमें कुछ शेष नहीं रहता है। उप + यज् + विच् = उपयज्। 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः' (८।२।३६) से ज् को ष् = उपयष्। 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व (ष् को ड्) 'वावसाने' से 'ड' को विकल्प से चर् (ट् पक्ष में 'ड्') उपयट्: उपयड्।

यहाँ जब पूर्वसूत्र ३।२।७१ से 'मन्त्रे' की अनुवृत्ति हो सकती थी तो 'छन्दसि' के देने की क्या आवश्यकता है। इस पर सुबोधिनीकार का कथन है कि 'छन्दसि' कहने से ब्राह्मण का भी संग्रह हो जाता है। 'मन्त्रे' कहने से उसका ग्रहण सम्भव नहीं है क्यों कि ब्राह्मण वेद का वह भाग है जो मन्त्र से व्यतिरिक्त है—'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या, शेषे ब्राह्मणशब्दः' (जै० सू० २।१।३२) इसके विपरीत नागेश का कथन है कि 'छन्दसि' कहने से ब्राह्मण भाग का बोध नहीं हो सकता क्योंकि 'छन्दोब्राह्मणानि' सूत्र से सिद्ध है कि ब्राह्मण भाग को छन्द नहीं कहा जाता है; अतः 'छन्दसि' का ग्रहण यहाँ स्पष्टता के लिए है। जो भी हो, पाणिनि की परम्परा में तो 'छन्दसि' से वैदिक भाषामात्र का ग्रहण होता है अतः हमें सुबोधिनीकार का ही मत स्वीकार करना चाहिये।

३२. आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च ३।२।७४ ॥ सुप्युपसर्गे चोपपदे आदन्तेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये मनिनादयस्त्रयः प्रत्ययाः स्युः। चात् विच्। सुदामा। सुधीवा। सुपीवा। भूरिदावा। घृतपावा। विच्—कीलालपाः।

किसी सुबन्त या उपसर्ग के उपपद में रहने पर वेद में मनिन्, क्वनिप् या वनिप् प्रत्यय होते हैं। 'च' से उपर्युक्त सूत्र वाले 'विच्' प्रत्यय का भी विधान समझना चाहिये। सुदामा + √दा + मनिन् (प्रकृतसूत्र से) न् की 'हलन्त्यम्' सूत्र से तथा 'इ' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा होकर

'तस्य लोपः' से लोप। सुदामन् शब्द से प्रथमा एकवचन में 'सु' विभक्ति आने पर 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' सूत्र से उपधा (नकारपूर्ववर्ती अकार) को दीर्घ। 'हल् ङ्याब्भ्यः'—सूत्र से 'सु' का लोप। 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य से 'न्' का लोप—सुदामा।

सुधीवा—सु + √धा + क्वनिप् (प्रकृतसूत्र से)। 'लशक्वतद्धिते' सूत्रसे 'क्' 'की, 'हलन्त्यम्' सूत्रसे 'प्' की, 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से 'इ' की इत्संज्ञा होकर, 'तस्य लोपः' से उनका लोप्—सु + धा + वन्। क्वनिप् प्रत्यय चूंकि कित् है, अतः 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' (६।४।६६) से 'धा' के आकार को ईकार आदेश—सुधीवन्—प्रथमा एक वचन में 'सु' आने पर दीर्घ, सुलोप और नकार का लोप होकर सुधीवा।

सुपीवा—सु + √पा + क्वनिप्—सुपीवन्—सुपीवा (सिद्धि पूर्ववत्)।

भूरिदावा—भूरि + √दा + वनिप्—भूरिदावन् = भूरिदावा (वनिप् कित् नहीं है, अतः 'घुमास्था०' के द्वारा 'दा' के आ को ई नहीं हुआ, शेषकार्य पूर्ववत्)।

घृतं पिवतीति घृतपावा (घी पीने वाला)—घृत + पा वनिप् = घृतपावा (वनिप् के अकित् होने से 'घुमास्था०' के द्वारा ईत्व नहीं हुआ, शेप कार्यपूर्ववत्)। कीलालं (जलं) पिवतीति कीलालपाः (जल पीने वाला) कीलाल + √पा + विच्—विच् का सर्वापहारी लोप। 'कीलालपा' से सुविभक्ति लगने पर रुत्व विसर्ग—कीलालपाः।

३३. 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्'—बहुलं छन्दसि ३।२।८८॥

उपपदान्तरेऽपि हन्तेर्बहुलं क्विप् स्यात्। यो मातृहा पितृहा।

लोक में हन् धातु से क्विप् तभी होता है, जब उपपद में ब्रह्मन्, भ्रूण या वृत्र शब्द होता है, किन्तु वेद में किसी शब्द के भी उपपद होने पर हन् धातु में बहुल प्रकार से क्विप् होता है। यथा—मातृहा (माता का वध करने वाला)। 'मातरं हन्ति' इस विग्रह में 'मातृ' शब्द के उपपद होने पर हन् धातु से कर्ता में क्विप् हुआ, क्विप् का सर्वापहारी लोप मातृहन्। सु विभक्ति आनेपर 'सौ च' (६।४।१३) से उपधा (अ) को दीर्घ, हल्ङ्यादिभ्यः'—से 'सु' का लोप, 'नलोपः-प्रातिपदिकान्तस्य' से 'न्' का लोप—मातृहा। ठीक इसी प्रकार पितरं हन्तीति पितृहा। (बहुलग्रहण से कहीं क्विप् नहीं होता, पितृघातः नागेश)।

(१) छन्दसि लिट् ३।२।१०५ ॥ भूतसामान्ये । 'अहं द्यावापृथिवी आततान' ।

लोक में लिट् लकार केवल परोक्षभूतकाल में होता है, किन्तु वेद में सामान्यभूत में भी हो सकता है। सामान्य भूत में लिट् का विधान करने का आशय हुआ कि उत्तम पुरुष में भी लिट् हो सकता है क्योंकि सामान्यभूत होने से 'परोक्ष' का वह बन्धन तो टूट ही गया जिसके रहते सामान्यतः उत्तम पुरुष में लिट् करने में अड़चन पड़ती थी। यथा—

अहं द्यावा पृथिवी आततान (मैंने स्वर्ग और पृथिवी को फैलाया)। मिप् के स्थान पर हुये णल् को 'णलुत्तमो वा' से णित् कर 'अत उपधायाः' से उपधा 'अ' को वृद्धि 'आ'।

(२) लिटः कानज्वा ३।२।१०६ ।। क्वसुश्च ३।२। १०७ ॥ छन्दसि कानच् क्वसू वा स्तः । 'चक्राणा वृष्णिम्' । 'यो नो अग्ने अररिवाँ अघायुः' ।

लिट् के स्थान में विकल्प में कानच् और क्वसु प्रत्यय होते हैं। 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (१।१।५६) के अनुसार ये दोनों प्रत्यय स्थानिवत् होंगे अर्थात् स्थानी लिट् के समान समस्त द्वित्वादिकार्य इसमें भी होंगे। यथा—'चक्राणा वृष्णिम्। √कृ + कानच् (आन), द्वि त्वकृ कृ आन–'उरत्' से ऋ को अकार भाव और रपत्व–कर कृ आन, 'कुहोश्चुः' से चुत्व चकृ आन, यण् और णत्व—चक्राण, प्रथमा एक वचन में चक्राणः, बहुवचन में चक्राणाः। रा दाने धातु से लिट् उसके स्थान पर क्वसु' द्वित्व—रा रा वस्, अभ्यास को ह्रस्व, 'वस्वेकाजाद्घसाम्, '(७।२।६७) से वस् के इट् आगम, 'आतो लोप इटि च' से उत्तर 'रा' के 'आ' का लोप ररिवस्, तब नञ् समास—अररिवस्। सु विभक्ति आने पर 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' से उपधा को दीर्घ, उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' से नुम् का आगम, 'हल्ङ्याब्भ्यः—से 'सु' का लोप, संयोगान्त 'स्' का लोप—अररिवान्। अररिवान्+अघायुः इस स्थिति में 'दीर्घादटिसमानपादे' (८।३।९) से न् को रु, 'आतोऽटिनित्यम् (८।३।३) से रु के पूर्ववर्ती आ को नित्यअनुनासिक—अररिवाँरु अघायुः—'भो भगो अघो अपूर्वस्य योऽशि' से

रु को यत्व, लोपः शाकल्यस्य' से य् का लोप—अररिवाँ अघायुः । (हे अग्ने ! जिसने हमें दान नहीं दिया वह अघायु-पापी है) ।

(३) णेश्छन्दसि ३।२।१३७॥ ण्यन्ताद्धातोश्छन्दसि इष्णुच् स्यात् तच्छीलादिषु । 'वीरुधः पारयिष्णवः' ।

अष्टाध्यायी में ३।२।१३४ सूत्र में कहा गया है कि क्विप् प्रत्यय तक के सारे सूत्रों में निर्दिष्ट-प्रत्यय, तच्छील (यह उसका स्वभाव है), तद्धर्म (यह उसका धर्म है) और तत्साधुकारी (उसे अच्छी तरह करता हैं) इन अर्थों में होते हैं, ये सभी अर्थ कर्तृवाची हैं । वेद में ण्यन्त (णिच् अथवा णिङ् अन्त वाले) धातु से इन्हीं तच्छीलादि अर्थों में इष्णुच् प्रत्यय होता है । वीरुधः पारयिष्णवः' (सामर्थ्यवान् वृक्ष सब······) पारयितुं शीलमस्य, पारयितुं धर्मोऽस्य, साधु पारयति वा पारयिष्णुः ।√पॄ+णिच् (पारि) + इष्णुच् (इष्णु)—पारि+इष्णु—गुण (इको ए—सार्वधातुकार्धधातुकयोः) अयादेश (एचोऽयवायावः) पारयिष्णुः, प्रथमा वहुवचन में पारयिष्णवः ।

(४) भुवश्च ३। २। १३८॥ अस्मात् केवलात्प्राग्वत् । भविष्णुः ।

अकेले भू धातु से भी इष्णुच् होता है । भवितुं शीलमस्य, धर्मो वा, साधु भवति वा भविष्णुः √भू + इष्णुच्, गुण, अवादेश ।

(५) (वा०) 'छन्दसि परेच्छायां क्यच उपसंख्यानम्' (३।१।८ सूत्रे वार्तिकम्) । 'क्याच्छन्दसि' ३।२।१७०। उप्रत्ययः स्यात् । अघायुः ।

'सुप आत्मनः क्यच्' (३।१।८) के अनुसार नामधातु का क्यच् प्रत्यय वहाँ होता है जहाँ अपनी इच्छा व्यक्त की जाती है और जिस चीज की इच्छा व्यक्त की जाती है उस सुवन्त से क्यच् प्रत्यय होता है । जैसे आत्मनः पुत्रमिच्छति =पुत्रीयति । किन्तु सूत्र में इतना और जोड़ देना चाहिए कि वेद में दूसरे की इच्छा होने पर भी क्यच् होता है । यथा—परस्य अघम् (पापम्) इच्छति—अघयति । यहाँ दूसरे के लिए अघ की इच्छा की गयी है तव भी क्यच् हो गया है । 'अश्वाघस्यात्' ७।४।३७ से 'आ' हो गया—अघायति ।

वेद में 'क्य' अर्थात् क्यच्, क्यङ्, क्यष् के बाद भी कर्ता में उ प्रत्यय होता है। यथा—अघायतीति अघायुः। अघ+क्यच्—आत्व+उ=अघायुः। दूसरे के लिए अघ चाहने वाला।

(६) (वा०) 'एरजधिकारे जवसवौ छन्दसि वाच्यौ' (३।३।५६ सू० वा०)—'जवे याभिर्यूनः'। ऊर्वोमें जवः। 'देवस्य सवितुः सवे'।

लोक में 'एरच्' (३।३।५६) सूत्र के अनुसार इकारान्त धातु से अच् प्रत्यय होता है। वेद में जव और सव शब्द भी अच् प्रत्यय से ही सिद्ध हों यद्यपि इनके धातु इकारान्त नहीं हैं बल्कि उकारान्त हैं (जु सौत्र धातु, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने, षु प्रसवैश्वर्ययोः) इन धातुओं में ऋदोरप् (३।३।५७) से प्राप्त अप् के स्थान पर प्रकृत वार्तिक से अच् का विधान किया गया है। जु+अच् (अ)=जवः (गुण, अवादेश) सू+अच्=सवः, अथवा सु+अच्=सवः। अप् और अच् में भेद यह है कि 'अच्' में चकार की इत्संज्ञा होती है अर्थात् चित् है अतः अच् प्रत्यय होने से 'चितः' (६।१।१६३) से अन्तोदात्त होता है, अप् प्रत्यय होने पर अन्तोदात्त न हो पाता।

३४. मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः ३।३।९६ ॥ वृषादिभ्यः क्तिन् स्यात् स चोदात्तः। 'वृष्टिं दिवः'। 'सुम्नमिष्टये'। 'पचात्पक्तीरुत'। 'इयं ते नव्यसी मतिः'। वित्तिः। भूतिः। 'अग्न आ याहि वीतये' (सा० वे० १।१।१)। 'रातौ स्यामोभयासः'।

वेद में वृषु सेचने, इषु इच्छायाम्, डुपचष् पाके, मन ज्ञाने—मनु बोधने, विद ज्ञाने, विद सत्तायाम्—विद विचारणे, भू सत्तायाम्, वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु. रा दाने इन धातुओं से क्तिन् प्रत्यय होता है और वह उदात्त होता है।

१—वृष्टिं दिवः। वृष् धातु से क्तिन् (ष्टुनाष्टुः' से त् को ट्) वृष्टिः, द्वितीया एक वचन में वृष्टिम्।

२. सुम्नमिष्टये ।' इष् + √क्तिन् = इष्टि, चतुर्थ्येकवचन में इष्टये ।

३. पचात्पक्तीरुत । पच् + क्तिन् (चोः कुः से च् को क्) पक्ति द्वितीया बहुवचन में पक्तीः ।

४. इयं ते नव्यसी मतिः । ज्ञानार्थक मन् धातु से क्तिन् । 'अनुदात्तोपदेश--(६।४।३७) 'न्' का लोप--मतिः ।

५. वित्तिः–सत्तार्थक विद् धातु से क्तिन् '(खरि च' से झल् द् को चर् 'त्') वित्तिः ।

६. भूतिः—भू + क्तिन् = भूतिः ।

७. 'अग्न आ याहि वीतये (हे अग्नि भोजन के लिए आइये) वी + क्तिन् चतुर्थ्येकवचन में वीतये' ।

८. रातौ स्यामोभयासः । रा + क्तिन्, सप्तम्येकवचन में 'रातौ' ।

यह अवधेय है कि क्तिन् कित् प्रत्यय है अतएव यथा स्थान प्राप्त गुण और वृद्धि नहीं हो सकी हैं ।

३५. छन्दसि गत्यर्थेभ्यः ३।३।१२९ ॥ ईषदादिषूपपदेषु गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि युच् स्यात् । खलोऽपवादः । सूपसदनोऽग्निः' ॥

वेद में ईषद्, दुः, सु के उपपद में होने पर गत्यर्थक धातुओं से युच् प्रत्यय होता है । यह प्रत्यय 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्रार्थेषु खल्' (३।३।१२६) से प्राप्त खल् का अपवाद है—उसे काट देता है ।

यथा—सूपसदनोऽग्निः (अग्नि सु प्राप्य है) सु + उप + √सद् + युच्—यु को अन (युवोरनाकौ) प्रथमैकवचन में सूपसदनः ।

३६. अन्येभ्योऽपि दृश्यते ३।३।१३० ॥ गत्यर्थेभ्यो येऽन्ये धातवः तेभ्योऽपि छन्दसि युच्स्यात् । 'सुवेदनामकृणोर्ब्रह्मणे गाम्' ।

गत्यर्थक धातुओं से भिन्न धातुओं से भी वेद में युच् प्रत्यय होता है । यथा—'सुवेदनामकृणोर्ब्रह्मणे गाम्' । (तुमने ब्रह्म के लिए अच्छी तरह समझने योग्य प्रार्थना की है) सु + √विद् + युच् = अन + टाप् (स्त्रियाम्)—द्वितीया एकवचन में 'सुवेदनाम्' ।

३७. छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ३।४।६ ॥ धात्वर्थानां सम्बन्धे सर्वकालेष्वेते वा स्युः। पक्षे यथास्वं प्रत्ययाः। 'देवो देवेभिरागमत्। अत्र लोडर्थे लुङ्। 'इदं तेभ्योऽकरं नमः'। लङ्—'अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः'। लिट्—अद्या ममार'। अद्य म्रियत इत्यर्थः।

लोक में 'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः' (३।४।१) के अनुसार धात्वर्थों के सम्बन्ध में जिस काल में जो प्रत्यय उक्त हैं उनसे भिन्न काल में भी वे प्रत्यय होते हैं। यथा—'वसन् ददर्श' यहाँ लडादेश शतृ प्रत्यय भूतकाल में है। 'सोमयाज्यस्य पुत्रो भविता' (सोमेनेष्टवानिति सोमयाजी 'करणे यजः' से भूतकाल में णिनिप्रत्यय है) यहाँ भूतकाल में विहित णिनिप्रत्यय 'भविता' (अनद्यतन भविष्यल्लुडन्त) की प्रधानता के कारण तदनुसार भविष्यत्काल में है। इसी प्रकार वेद में धात्वर्थों के सम्बन्ध में लुङ्, लङ्, और लिट् लकार भी उन सभी कालों में विकल्प से होते हैं जिनमें ये उक्त नहीं हैं। पक्ष में ये लकार अपने-अपने निश्चित काल में भी होते हैं—सामान्यभूत में लुङ्, अनद्यतन भूत में लङ् और परोक्षभूत में लिट्। यथा—'देवो देवेभिरागमत्' (देव अग्नि, देवताओं के साथ आयें) यहाँ आ + √गम् से लुङ् लकार लोट् (अनुज्ञा) के अर्थ में हुआ है।

आ + गम् + लुङ् (ति) गम् धातु लृदित है अतः 'पुषादि'—के अनुसार च्लि को 'अङ्' हो गया। 'इदं तेभ्योऽकरं नमः' (यह नमस्कार मैं उनके लिए करूँ) 'अकरम्' लुङ् का रूप है (कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि ३।१।५९ से च्लि का अङ् हुआ है।)[1] किन्तु यहाँ लोट् (अनुज्ञा) के अर्थ में है। पुनः अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः' (यह यजमान आज अग्नि को होता वरण करता है) यहाँ 'अवृणीत' (√वृ + लङ् (त) 'क्र्यादिभ्यः श्ना' (ना) 'ई हल्यघोः' से ईत्व, अडागम) लङ् लकार, लट् के अर्थ (वर्तमान काल) में हुआ है। अद्या ममार (आज मरता है) यहाँ ममार (√मृ + लिट्) लिट् रूप है किन्तु यह लिट्, लट् के अर्थ (वर्तमान काल) में हुआ है।

---

१. च्लि को अङ् होने पर ऋदृशोऽङि गुणः ७।४।१६ से गुण होता है।

३८. लिङर्थे लेट् ३।४।७ ॥ विध्यादौ हेतुहेतुमद्भावादौ च धातोर्लेट् स्याच्छन्दसि ।

३९. सिब्बहुलं लेटि ३।१।३४ ।

४०. इतश्च लोपः परस्मैपदेषु ३।४।९७ ॥ लेटस्तिङामितो लोपो वा स्यात् परस्मैपदेषु ।

विधि आदि हेतुहेतुमद्भाव आदि जितने भी अर्थों में लिङ् लकार का विधान लोक में किया गया है, उन सभी अर्थों में वेद में लेट् लकार होता है। उन अर्थों की पूरी जानकारी के लिए देखें—'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् (३।३।१६१), 'हेतुहेतुमतोर्लिङ्' (३।३।१५६), 'इच्छार्थेषु लिङ्' (३।३।१५७), 'लिङ् चोर्ध्वंमौहूर्तिके' (३।३।१६४), 'लिङ् च' (३।३।१५९), 'लिङ् यदि' (३।३।१६८) 'शकि लिङ् च' (३।३।१७२) 'आशिषि लिङ् च' (३।३।१७३) ।

लेट् लकार में विविध प्रकार से सिप् (प्रत्यय या विकरण) धातु से होता है। (काशिकाकार के मत से 'सिप्' प्रत्यय किन्तु नागेश के मत से विकरण है) ।

परस्मैपद में लेट् लकार के तिङ् (अर्थात् परस्मैपद के प्रत्यय-तिप् तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्-वस्-मस्) के ह्रस्व इकार का लोप विकल्प से होता है। इन नियमों का प्रयोग आगे मिलेगा।

४१. लेटोऽडाटौ ३।४।९४ लेटः अट् आट् एतावागमौ स्तः तौ च पितौ । वा०—'सिब्बहुलं णिद्वक्तव्यः' । वृद्धिः । प्र ण आयूंषि तारिषत्' । 'सुपेशस्करति जोषिषद्धि' । 'आ साविषदर्शसानाय' । सिपः इलोपस्य च अभावे—'पताति दिद्युत्' । 'प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवाति' ॥

लेट् के, अर्थात् उसके आदेशों—तिङ् विभक्तियों के अट् या आट् ये आगम होते हैं और ये पित् माने जाते हैं। (फिर भी चूँकि ये आगम टित् हैं अर्थात् इनमें 'ट्' की इत्संज्ञा हुई है, अतः 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्र के अनुसार तिप्

आदि विभक्तियों के आदि में रखते हैं)। वार्तिककार का कहना है कि 'सिब्बहुलं लेटि' सूत्र से लेट्लकार में धातु से होने वाला 'सिप्' प्रत्यय या विकरण (जो वस्तुतः पित् हैं) को विविधरूप से णित् मानें (इसलिए कि 'अचो ञ्णिति' अथवा 'अत उपधायाः' (७।२।११५-११६) से वृद्धि हो सके)।

उदाहरण—(१) 'प्र ण आयूंषि तारिषत्' (वह हमारी आयु को बढ़ावे) में 'तारिषत्' का प्रयोग। 'तॄ' (प्लवनतरणयोः) धातु से लेट् (तिप्)। 'सिब्बहुलं लेटि' से धातु से सिप् (स्) और वार्तिक 'सिब्बहुलं णिद्वक्तव्यः' के अनुसार उसका णित्त्व। 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से इट् आगम—तॄ+इ+स् ति। अब 'लेटोऽडाटौ' के अनुसार तिप् के अट् आगम, 'अचोऽञ्णिति' से ऋ की वृद्धि रपरत्व, 'तिः के इकार का लोप (इतश्च लोपः परस्मैपदेषु) 'आदेशप्रत्यययोः' स् को ष्—तारिषत्।

(२) 'सुपेशस्करति जोषिषद्धि' में 'जोषिषत्' का प्रयोग। जुषी प्रीति-सेवनयोः धातु में अनुदात्त 'ई' की इत्संज्ञा होने से 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (१।३।१२) के अनुसार इसमें आत्मनेपद की ही विभक्तियाँ होनी चाहिये फिर भी व्यत्यय से परस्मैपद की ही विभक्तियाँ लगेंगी। जुष्+लेट् (तिप्), पूर्ववत् धातु से सिप्, उसका णित्त्व, इडागम, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से जुष्' के उपधा 'उ' को गुण (ओ), तिप के अडागम, सकार का षत्व—जोषिषत्।

अब ऐसे उदाहरण दे रहे हैं जिनमें सिप् (प्रत्यय या विकरण) और इलोप दोनों नहीं हुए हैं—(१] 'पताति विद्युत्' (बिजली गिरे) में 'पताति'। पत्+लेट् (तिप्)—'लेटोऽडाटौ' के अनुसार तिप् के आट् आगम—पताति। इसी प्रकार (२) 'प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवाति' में 'भवाति' का प्रयोग—भू+आ+ति—गुण (सार्वधातुकार्धधातुकयोः) अवादेश (एचोऽयवायावः)—भवाति।

४२. स उत्तमस्य ३।४।९८—लेडुत्तमसकारस्य वा लोपः स्यात्। करवाव करवावः॥ टेरेत्वम्—

लेट् लकार के उत्तम पुरुष की विभक्तियों के सकार का विकल्प से लोप हो जाता है। यह अवधेय है कि उत्तम पुरुष की दो विभक्तियों 'वस्' और 'मस्' में ही सकार रहता है जिसकी 'हलन्त्यम्' सूत्र से इत्संज्ञा नहीं हो

सकती क्योंकि विभक्तिगत तवर्ग, सकार और मकार की इत्संज्ञा का निषेध है ('न विभक्तौ तुस्माः' १।३।४)। इस बात को ध्यान में रखकर उत्तमपुरुष के सकार का विकल्प से लोप करने के लिए 'स उत्तमस्य' सूत्र का विधान किया गया।

करवाव करवावः—कृ+लेट् (वस्), 'तनादिकृञ्भ्य उः' से उ (विकरण) गुण, रपर,–करु वस्–आट् आगम (लेटोऽडाटौ)–करु आ वस्, उकार को गुण, अवादेश करवावस्–प्रकृतसूत्र से स् का लोप–करवाव। सकार के लोपाभाव पक्ष में रुत्व विसर्ग करवावः।

४३. आत ऐ ३।४।९५—लेट आकारस्य ऐ स्यात्। 'सुतेभिः सुप्रयसा मादयैते'। आतामित्याकारस्य ऐकारः। विधिसामर्थ्यादाट ऐत्वं न। अन्यथा हि ऐटमेव विदध्यात्। 'यो यजाति यजात इत्'।

अब लेट् लकार की आत्मने पद की विभक्तियों—त, आताम्, झ आदि के विषय में कहते हैं—टेरेत्वम्, अर्थात् लेट् लकार चूँकि टित् है अतः उसकी सभी आत्मनेपद की विभक्तियों के टि-भाग (अचोऽन्त्यादिटि) का एकार आदेश हो जाता है ('टित आ०'— ३।४।७९)। लेट्लकार के आकार का 'ऐ' हो जाता है। यह अवधेय है कि लेट् लकार में हमें तीन आकार दिखायी देते हैं—एक तो है आट् का आकार और दो आकार हैं 'आताम्' या 'आथाम्' में। इस सूत्र में 'आताम्, या 'आथाम्' के पहले आकार को ही ऐकार करना अभिप्रेत है, शेष दोनों में से किसी को नहीं। कारण इसका यह है कि यदि आट् के 'आ' को 'ऐ' ही करना अभीष्ट होता तो पाणिनि जी आट् न कह कर 'लेटोऽडैटो' सूत्र कहते हुए ऐट् का ही विधान करते। आताम्' और आथाम्' में दूसरे अर्थात् तकारोत्तरवर्ती अथवा थकारोत्तरवर्ती 'आ' को भी 'ऐ' करना अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि वह तो आताम् और आथाम् के उस टि-भाग (आम्) के अन्तर्गत हैं जिसका 'टित् आत्मनेपदानां टेरे' सूत्र से नित्य एत्व ही होता है।

उदाहरण—'सुतेभिः सुप्रयसा मादयैते' (वे दोनों पूर्वों तथा अन्न के द्वारा प्रसन्न हों) में 'मादयैते' का प्रयोग। √मद् + णिच् (स्वार्थ)=

मादि+आट्+आताम्--गुण (सार्वधातुकार्धधातुकयोः) अयादेश--मादय्+आ+आताम्। प्रकृत सूत्र से आताम् के प्रथम 'आ' को ऐ। 'टिभाग (आम्) को 'ए' (टित आत्मनेपदानां टेरे)। आ+ऐ=ऐ (वृद्धि)--मादयैते। 'आत ऐ' सूत्र से 'आट्' के 'आ' को 'ऐ' करना अभीष्ट नहीं है--ऐसा कह चुके हैं। यदि आट् के 'आ' को 'ऐ' कर दिया जाता तो 'यजाते' पद बन ही नहीं पाता। √यज्+आट्+ते=यजाते, ऐ होने पर 'यजैते' बन जाता। यह भी अवधेय है कि यदि आट् के 'आ' को 'ऐ' कर दिया जाता तो 'यजाति' पद भी नहीं बन पाता क्योंकि आट् तो परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों विभक्तियों के होता है और प्रकृतसूत्र में 'आत्मने पद' का शब्दतः निर्देश न होने से परस्मैपद में होने वाले आट् का 'ऐ' निर्बाध हो जाता तब 'यजाति' के स्थान पर 'यजैति' बनता।

४४. वैतोऽन्यत्र ३।४।९६—लेट एकारस्य ऐ स्याद्वा। 'आत ऐ' इत्यस्य विषयं विना। 'पशूनामीशै'। 'ग्रहा गृह्यान्तै'। अन्यत्र किम्? सुप्रयसा मादयैते।

लेट् लकार के एकार को 'ऐ' विकल्प से होता है किन्तु पूर्वसूत्र 'आत ए' की जहाँ प्रवृत्ति रहती है, वहाँ यह नियम लागू नहीं होता है।

उदाहरण--'पशूनामीशै' (मैं पशुओं पर शासन करूँ) में 'ईशै' का प्रयोग। √ईश+लेट् (ईट् उत्तमपुरुष एकवचन) 'इ' को 'टित आत्मने-पदानां टेरे' से एत्व—ईशे प्रकृतसूत्र से 'ए' को 'ऐ'--ईशै।

(२) 'ग्रहा गृह्यान्तै' (ग्रह पकड़े जायें) ग्रह धातु से कर्मवाच्य में लेट् (झ)। 'सार्वधातु के यक्' से यक्-ग्रह्+य्+झ=अन्त (झोऽन्तः) 'ग्रहिज्या०'—सम्प्रसारण तथा पूर्वरूप, 'लेटोऽडाटौ' से आट् आगम—गृह्यान्त-'टित आत्मनेपदानां टेरे' से 'टि' (अ) को एत्व—गृह्यान्ते—प्रकृत सूत्र से 'ए' को 'ऐ'—गृह्यान्तै।

अन्यत्र किम्? अर्थात् 'आत ऐ' इस सूत्र के विषय से अतिरिक्त स्थानों में ही हो, ऐसा क्यों कहा? 'सुप्रयसा मादयैते' यहाँ 'आत ए' सूत्र से आताम् के पूर्व 'आ' को 'ऐ' हुआ है और 'टि' आम् को 'ए' हुआ है। यह 'आत ए' का विषय हुआ, अतः अन्तिम 'ए' को प्रकृतसूत्र से 'ऐ' नहीं हुआ। यदि

'आत ऐ' इत्यस्य विषयादन्यत्र' ऐसा न कहते तो 'मादयैते' के तकारोपवर्ती 'ए' को भी 'ऐ' हो जाता तब 'मादयैतै' पद बनने लगता।

४५. उपसंवादाशङ्कयोश्च ३।४।८—पणबन्धे आशङ्कायां च लेट् स्यात्। 'अहमेव पशूनामीशै'। 'नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम'।



उपसंवाद कहते हैं शर्त करने को अर्थात् यदि तुम मेरे लिए ऐसा करो तो मैं तुम्हारे लिए ऐसा करूँ। इसी को वृत्ति में पणबन्ध कहा गया है। 'यदि तुम मेरे लिए ऐसा करो' यही उपवाक्य उपसंवाद या पणबन्ध है। कारण से कार्य की सम्भावना आशङ्का कहलाती है। पणबन्ध और आशंका में वेद में लेट् लकार होता है। यथा—'अहमेव पशूनामीशै' (मैं ही पशुओं अर्थात् सभी सांसारिक प्राणियों पर शासन करूँ) इस वाक्य में प्रयुक्त 'ईशै' ईश् धातु के लेट् लकार उत्तमपुरुष एकवचन की क्रिया है। त्रिपुरविजय के लिए देवों से प्रार्थित रुद्र का यह उपसंवाद रूप वचन है अतएव इसमें लेट् लकार है। 'ईशै' पद की सिद्धि पूर्वसूत्र 'वैतोऽन्यत्र' के प्रकरण में दिखायी जा चुकी है। आशङ्का का उदाहरण है 'नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम' (ऐसा न हो कि हम पाप करते-करते नरक में गिरें) यहाँ कारण से कार्य की सम्भावना-आशङ्का में लेट् लकार हुआ है।√पत्+आट्+मस् (लेट् उ० पु० ब० व०)। सिप् का बाहुलक अभाव हुआ है। 'स उत्तमस्य' से सकार का लोप-पताम।

४६. हलः श्नः शानज्झौ—छन्दसि शायजपि ३।१।८४—अपि शब्दाच्छानच्। (वा०)—हृग्रहोर्भश्छन्दसि—इति हस्य भः। 'गृभाय जिह्वया मधु'। 'बधान देव सवितः'। 'अनिदिताम्-' ६।४।२४ इति बध्नातेः नलोपः। 'गृभ्णामि ते'। 'मध्वा जभार'।

लोट् लकार के मध्यमपुरुष के 'सिप् (सि) को 'हि' हो जाता है (सेह्यपिच्च ३।४।८७) क्र्यादिगण में श्ना (ना) विकरण होता है।

ऐसे क्र्यादिगण के हलन्त धातु में 'श्ना' को शानच् होता हैं यदि पर में 'हि' हो। वेद में ऐसी स्थिति में 'श्ना' को 'शायच्' (आय) होता है 'अपि' के कहने से शानच् भी होगा। 'हृ' और ग्रह्' धातु का वेद मे 'भ' हो जाता है। यथा-'गृभाय जिह्वया मधु' (जिह्वा से मधु ग्रहण करो) √ग्रह् + श्ना + सि (लोट् मध्यम पुरुष ए० व०) संप्रसारण (ग्रहि ज्या०' ६।१।१६), 'सि' को हि श्ना को शायच् (आय), हि' को लुक् ('अतो हेः' ६।४।१०५) 'ह् को भ्' गृभाय। जहाँ 'शायच्' नहीं होता वहाँ शानच्, यथा—'बधान देव सवितः, (हे देव सवितः तुम बाँधो) बन्ध् + श्ना + सि (= हि)। अनिदितां हल उपधाया क्ङिति' (६।४।२४) से बन्ध् के उपधा 'न' का लोप, धातु के हलन्त होंने और 'हि' के पर होने से 'श्ना' को शानच् (आन), हि का लुक्—बधान। यहाँ यह अवधेय है कि 'स' को 'हि' होता है वह अपित् भी मान लिया जाता है ('सेर्ह्यपिच्च' ३।४।८७)। अपित् सार्वधातुक प्रत्यय ङित् के तुल्य माने जाते हैं (सार्वधातुकमपित् १।२।४)। अत एव 'अनिदितां हलः ०६।२।२४) से 'बन्ध्' का नलोप निर्बाध हो जाता है।

'ह्' के 'भ' होने का उदाहरणान्तर—'गृभ्णामि ते (सौभगत्वाय हस्तम्) 'मैं (वर) तेरा (वधू का) हाथ सौभाग्य के लिए पकड़ता हूँ।' 'गृह्णामि' के स्थान पर 'गृभ्णामि' (ह् को भ्)। 'मध्वा जभार' (मधु + आजभार) 'मधु लाया।' 'ह्' को भ्—आजहार से आजभार।

४७. व्यत्ययो बहुलम् ३।१।८५—विकरणानां बहुलं व्यत्ययः स्याच्छन्दसि। 'आण्डा शुष्मस्य भेदति'। भिनत्तीति प्राप्ते। 'जरसा मरते पतिः'। म्रियत इति प्राप्ते। 'इन्द्रो वस्तेन नेषतु'। नयतेः लोट् शप्सिपौ द्वौ विकरणौ। 'इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्'। तरेमेत्यर्थः। तरतेर्विध्यादौ लिङ्। उः, शप्, सिप् चेति त्रयो विकरणाः।

वेद में धातु और तिङ् के बीच में आने वाले विकरण (शप् आदि) विविध प्रकार से अपने नियम का उल्लङ्घन करते हैं। कहीं नियमतः होने वाले विकरण के बजाय दूसरा विकरण हो जाता है, कहीं एक के बजाय दो

और कहीं तीन विकरण हो जाते हैं। यथा—'आण्डा शुष्मस्य भेदति। यहाँ भिद् (रुधादिगणीय) धातु से 'श्नम्' (रुधादिभ्यः श्नम्) होना था किन्तु उसके बजाय 'शप्' हो गया इस प्रकार जहाँ 'भिनत्ति' होता वहाँ 'भेदति' हो गया (पुगन्तलघूपस्य से उपधा को गुण)। इसी प्रकार 'जरसा मरते पतिः'। मृङ् प्राणपरित्यागे (तुदादिगणीय) धातु से 'श' विकरण होकर 'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' से रिङ् आदेश होकर 'म्रि' और 'अचिश्नुधातुभ्रुवाम्'—(६।४।७७) से इयङ् आदेश होकर जहाँ 'म्रियते' बनता वहाँ 'श' के बजाय 'शप्' विकरण होने से 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से केवल गुण होने से 'मरते' होता है।

'इन्द्रो वस्तेन नेषतु' में 'नेषतु' शप् और सिप् दो विकरणों के होने से बना है √नी + सिप् + शप् + ति (लोट्० म० पु०, ए० व०) नी + स् + अ + ति–गुण, 'इ' को 'ए' (एरुः ३।४।८६), षत्व (आदेशप्रत्ययोः) नेषतु (लोक में नयतु।)

'इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्' में 'तरुषेम' उ० शप्, सिप् इन तीन विकरणों के होने से बना है—तृ + उ + सिप् (स्) + शप् (अ) + मस् (विधिलिङ् उ० पु० ब० व०)=तर् + उस् + आ + यासुट् + मस् (यासुट् परस्मैपदेषु ३।४।१०३) यासुट् में 'उ' और 'ट्' की इत्संज्ञा है अत एव 'तस्य लोपः' से लोप, स् का 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से लोप, 'नित्यं ङितः' से मस् के 'स् का लोप, 'अतो येयः' से 'या' को इय् आदेश तरुष् + अ + इय् + म–लोपो व्योर्वलि' से य् का लोप गुण (अ + इ = ए)—तरुषेम, लोक में तरेम।

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन॥

'धुरि दक्षिणायाः'। दक्षिणस्यामिति प्राप्ते। 'चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति'। तक्षन्तीति प्राप्ते। उपग्रहः परस्मैपदात्मनेपदे। 'ब्रह्मचारिणमिच्छते'। इच्छतीति प्राप्ते। 'प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति'। युध्यत इति प्राप्ते। 'मधोस्तृप्ता इवासते'। मधुनः इति प्राप्ते। नरः पुरुषः। 'अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः'। वियूयात इति प्राप्ते। कालः कालवाची प्रत्ययः।

'श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन'। लुटो विषये लृट्। 'तमसो गा अदुक्षत्'। अधुक्षत् इति प्राप्ते। 'मित्र वयं च सूरयः'। मित्रा वयमिति प्राप्ते। स्वरव्यत्ययस्तु वक्ष्यते। कर्तृशब्दः कारकमात्रपरः। तथा च तद्वाचिनां कृत्तद्धितानां व्यत्ययः। 'अन्नादाय'। अण्विषयेऽच्। अवग्रहे विशेषः यङो यशब्दादारभ्य 'लिङ्याशिष्यङ्' इति ङकारेण प्रत्याहारः। तेषां व्यत्ययो भेदतीत्यादिः उक्त एव ॥

शास्त्रकार आचार्य पाणिनि बाहुलक से—विविध प्रकार से केवल विकरणों का ही व्यत्यय (नियमोल्लङ्घन) नहीं, बल्कि अन्यतत्त्वों का भी व्यत्यय चाहते हैं। वे तत्त्व हैं—(१) सुबन्त, (२) तिङन्त, (३) उपग्रह (परस्मैपद-आत्मनेपद), (४) लिङ्ग, (५) नर (पुरुष), (६) काल (काल बोधक प्रत्यय), (७) हल् (व्यञ्जन), (८) अच् (स्वरवर्ण), (९) स्वर (अक्षरों पर दबाव डालकर उच्चारण), (१०) कर्त्ता अर्थात् कारकमात्र कारक वाची कृत् और तद्धित प्रत्यय; (११) यङ् प्रत्याहार—'सार्वधातुके यक्' ३।१।६७ के 'य' से लेकर 'लिङ्याशिष्यङ्' ३।१।८६ के 'ङ्' तक।

उदाहरण—(१) 'धुरि दक्षिणायाः' यह सुबन्त का उदाहरण है, यहाँ 'दक्षिणस्याम्' (सप्तमी ङि) के स्थान पर 'दक्षिणायाः' (षष्ठी ङस्) हुआ। यह अवधेय है कि षष्ठी ङस् होने पर 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' सूत्र से स्याट् का आगम और आप् (आ) को ह्रस्व नहीं हुआ है इसका भी कारण छान्दस होना ही है।

(२) 'चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति' यहाँ तिङन्त (झि) के स्थान पर 'तक्षति (तिप्')।

(३) उपग्रह—'ब्रह्म चारिणमिच्छते' यहाँ 'इच्छति' (परस्मैपद) के स्थान पर 'इच्छते' (आत्मने पद)। उसी प्रकार 'प्रतीपमन्य ऊर्मियुध्यति' में 'युध्यते' (आत्मनेपद) के स्थान पर 'युध्यति' (परस्मैपद)।

(४) लिङ्ग—'मधोस्तृप्ता इवासते' में नपुंसक लिङ्ग में होने वाले 'मधु' के षष्ठी एकवचन 'मधुनः' के स्थान पर 'मधु' को पुंल्लिङ्ग कर, मधोः'।

(५) पुरुष—'अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः' में 'वियूयान्' (प्रथमपुरुष) के स्थान पर 'वियूयाः' (मध्यमपुरुष) ।

(६) काल—श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन (कल अग्नियों को रखने वाले ने) यहाँ भविष्यत् काल अनद्यतन में है अतः अनद्यतने लुट् ३।३।१५ से लुट् होना चाहिये किन्तु हुआ है लृट् । उस लृट् का शानच् लादेश हुआ है (लृटः सद्वा ३।३।१४) ।

(७) हल्—'तमसो गा अदुक्षत्' में 'अघुक्षत्' के स्थान पर 'अदुक्षत्' हुआ है अर्थात् ,एकाचो बशोभष्झषन्तस्य स्ध्वोः' के अनुसार जो 'द्' को घ' होना चाहिये था वह नहीं हुआ । यह व्यञ्जनवर्ण का व्यत्यय है । अ दुह् + लुङ् (ति)—ह् को घ् (दादेर्धातोर्घः') 'च्लि' को 'शल इगुपधादनिटः क्सः, से क्स (स) अदुघ् + स + त्—बश् (द्) को भष् (ध्) नहीं हुआ (व्यत्यय से) घ् को च्र क्' 'स्' को षत्व—अदुक्षत् ।

(८) अच् (स्वर वर्ण) का व्यत्यय—'मित्र वयं च सूरयः' यहाँ 'मित्राः' के स्थान पर 'मित्र' हुआ है अर्थात् व्यत्यय के कारण दीर्घ स्वर के स्थान पर ह्रस्व स्वरवर्ण ।

(९) स्वर—इसका व्यत्यय स्वरप्रक्रिया में दिखाया जायगा । सुबोधिनी कार ने इसी स्थल पर प्रसङ्गवश उदाहरण दे देना अच्छा समझा है—'गवा-मिव श्रियसे' । √ श्रि से क्सेन् प्रत्यय हुआ है जो नित् है 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' के अनुसार नित् प्रत्यय लगने पर आद्युदात्त होता है किन्तु यहाँ व्यत्यय के कारण मध्योदात्त हुआ है ।

(१०) कर्त्ता—यहाँ कर्तृशब्द सभी कारकों का उपलक्षण (निर्देशक) है अतः कर्ता, कर्म इत्यादि में होने वाले कृत् और तद्धित प्रत्ययों का बोधक है । उन प्रत्ययों में व्यत्यय देखा जाता है । यथा—'अन्नादाय'—अन्नमत्तीति अन्नादः, तस्मै । अन्न + √ अद् + अण् = अन्न आद—अन्नाद यही होना चाहिये किन्तु अण् प्रत्यय के स्थान पर 'अच्' प्रत्यय हुआ—अन्न + √अद् + अच् = अन्न अद—अन्नाद । यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि दोनों प्रत्ययों से ही 'अन्नाद' ही बनता है तब कैसे समझा जाय कि यहाँ अच् हुआ है, अण् नहीं । इसका अन्तर पदपाठ से मालूम होता है । अन्नादाय को पद-पाठ में अन्नअदाय करते हैं जो अच् प्रत्यय होने से ही सम्भव है । अण् प्रत्यय होने

पर तो अन्नऽआदाय पदपाठ में होता। पद-पाठ को देखकर ही दीक्षित जी अण् के स्थान पर व्यत्यय के कारण 'अच् प्रत्यय का होना मानते हैं।

(११) यङ्—यहाँ 'यङ्' से यङ् प्रत्याहार विवक्षित है। 'सार्वधातुके यक्' के 'य' से आरम्भ करके 'लिङ्याशिष्यङ्' के 'ङ्' को मिलाकर यङ् प्रत्याहार बनता है। इस प्रकार यङ् प्रत्याहार में सभी विकरण आ जाते हैं। विकरणों का व्यत्यय 'भेदति' इत्यादि 'व्यत्ययो बहुलम्' सूत्र के द्वारा दिखाया ही जा चुका है।

४८. लिङ्याशिष्यङ् ३।१।८६—आशीर्लिङि परे धातोरङ् स्याच्छन्दसि। 'वच उम्' ७।४।२०—'मन्त्रं वोचेमाग्नये'। (वा०) दृशेरग्वक्तव्यः। 'पितरं च दृशेयं मातरं च'। अङि तु 'ऋदृशोऽङि' ७।४।१६—इति गुणः स्यात् ॥

वेद में धातुओं के बाद आशीर्लिङ् होने पर धातु से अङ् होता है। यथा—'मन्त्रं वोचेमाग्नये' में 'वोचेम' का प्रयोग। 'वच उम्' सूत्र से वच् के उम् का आगम होता है जो मित् होने के कारण अन्त्य स्वर अर्थात् वकारोत्तरवर्ती 'अ' के बाद बैठता है—व + उ + च् + अङ् + यासुट् + मस्—यासुट् को इय्[1]—वोच इय् मस्, लोपोव्योर्वलि' से 'य्' का लोप, नित्यं ङितः' से 'स्' का लोप, अ + इ = ए (गुण)—वोचेम।

वार्तिककार ऐसी स्थिति में अश् धातु से अङ् के स्थान पर अक् करने का निर्देश देते हैं। यथा—'पितरं च दृशेयं मातरं च' (मैं एक साथ माता पिता को देखूँ) दृश् + अक् + इय् अम् = दृशेयम्। अङ् होने पर 'ऋदृशोऽङि गुणः' सूत्र से गुण हो जाता और 'दर्शेयम्' रूप बनता।

---

१. लिङाशिषि (३।४।११६) के अनुसार आशीर्लिङ् आर्धधातुक होता है और 'अतो येयः' सूत्र से सार्वधातुक के अवयव 'या' (यासुट्) के इय् आदेश होता है तब यहाँ आशीर्लिङ् में इय् आदेश करने के लिए 'छन्दस्युभयथा' (३।४।११७) से उसे सार्वधातुक करना पड़ता है।

४९. छन्दस्युभयथा ३।३।११७—धात्वधिकारे उक्तः प्रत्ययः सार्वधातुकार्धधातुकोभयसंज्ञः स्यात् । 'वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयः' । वर्धयन्तु इत्यर्थः । आर्धधातुकत्वाण्णिलोपः। 'विभृण्विरे' । सार्वधातुकत्वात् श्नुः शृभावश्च । हुश्नु० ६।४।८७ इति यण् ॥

धात्वधिकार में कहे गये प्रत्ययों को, वेद में सार्वधातुक और आर्धधातुक दोनों संज्ञा होती है । 'यथा वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयः' । वृध्+णिच्+लोट् (अन्तु) =गुण होकर 'वर्धयन्तु' होता है किन्तु यहाँ लोट् के अन्तु को आर्धधातुक मान कर 'णेरनिटि' सूत्र से णिच् को लोप् कर देने से वर्धन्तु' रूप हो जाता है।

अब ऐसा उदाहरण दे रहे हैं जहाँ आर्धधातुक, सार्वधातुक हो जाता है— 'विशृण्विरे'—वि+श्रु+लिट् (झ=इरे) । लिट् आर्धधातुक को सार्वधातुक मान कर 'श्रुवः शृ च' ३।१।७४ से 'श्रु' को 'शृ' आदेश और 'श्नु' विकरण। श्नु के शित् होने से सार्वधातुक और वह भी अपित् होने के कारण ङिद्वत् हो गया अतएव धातु को गुण नहीं हुआ—विशृनु+इरे—'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' वार्तिक से णत्व, 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' से यण् (उ को व्)= विशृण्विरे ।

(१) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च ३।२ १७१)—आदन्तादृ ऋवर्णान्ताद् गमादेश्च किकिनौ स्तः, तौ च लिड्वत् । बभ्रिर्वज्रम्, पपिः सोमम्, ददिर्गा, जग्मिर्युवा, जघ्निर्वृत्रममित्रियम् । जज्ञिः । लिड्वद्भावादेव सिद्धे 'ऋच्छत्यृताम्' ७।४।११ इति गुणबाधनार्थं किन्त्वम् । 'बहुलं छन्दसि' ७।१।१०३ इति उत्वम् । ततुरिः, जगुरिः ॥

वेद में आकारान्त, ऋकारान्तधातु से तथा गम्, हन् और जन् धातु से (तच्छीलादि अर्थ में) कि' तथा 'किन्' प्रत्यय होते हैं और इन्हें लिट् के तुल्य

समझा जाता है। यथा पपिः सोमम्। पातुं शीलमस्य धर्मो वा, साधु पिबति वा पपिः। पा + कि (इ)—लिड्वद्भाव होने से लिट् की तरह द्वित्व, अभ्यासादिकार्य—पपा + इ—'आतो लोप इटि च' इति आकार का लोप, विभक्तिकार्य—पपिः। उसी प्रकार √दा + कि = ददिः, गम् + कि = जग्मिः '(गमहनजन०' ५।४।९८ से उपधा 'अ' का लोप)। हन् + कि = जघ्निः ('हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ७।३।५४ से ह् को कुत्व होकर 'घ्', शेष पूर्ववत्) √जन् + कि = जज्ञिः ('गमहनजन०' से उपधा 'अ' का लोप. 'न्' को चुत्व होकर ञ्, ज् + ञ् = ज्ञ्)।

यह प्रश्न उठता है कि जब उक्त दोनों प्रत्ययों को लिड्वत् मानते ही हैं तब 'असंयोगाल्लिट् कित्' के अनुसार ये प्रत्यय कित् हो ही जायेंगे, इन्हें दुबारा कित् बनाने के लिए ककार से अनुबद्ध करने की आवश्यकता क्यों पड़ी? बात यह है ऋकारान्त धातु से जब 'कि' और 'किन्' प्रत्यय करेंगे तब लिड्वत् होने से 'ऋच्छत्यृताम्' ७।४।११ के अनुसार सामान्यतः लिट् के पर होने पर अर्थात् लिट् के कित् होने पर भी गुण होता है उस गुण का बाधन करने के लिए प्रत्यय को भी कित् करना पड़ा। 'बभ्रिर्वज्रम्' में 'बभ्रिः' में यह बात चरितार्थ होती है। √भृ + कि' लिड्वत् होने से प्राप्त गुण नहीं हो सका क्योंकि प्रत्यय का कित्त्व निषेध कर देगा। लिड्वत् कार्य होने तथा यण् कार्य करने पर बभ्रिः' बना। यह अवधेय है कि 'वज्रम्, सोमम्, गाः' आदि में प्राप्त षष्ठी का 'न लोकाव्यय निष्ठा०' से निषेध होने पर द्वितीया हुई है।

'बहुलं छन्दसि' (७।१।१०३) के अनुसार ऋकारान्त धातु का बहुलरूप से उकार आदेश होता है √तॄ + कि, द्वित्व, अभ्यासादि कार्य—ततॄ + इ—उकार आदेश, रपरत्व—ततुरिः इसी प्रकार गॄ + कि जगुरिः।

९०. तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्-कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः ३।४।९—से—वक्षे रायः। सेन्—ता वामेषे। असे—शरदो जीवसे धाः। असेन्—निच्वादाद्युदात्तः। क्से—प्रेषे। कसेन्—गवामिव श्रियसे। अध्यै, अध्यैन्—जठरं पृणध्यै। पक्षे आद्युदात्तम्। कध्यै,

कध्यैन्—आहुवध्यै पक्षे नित्स्वरः। शध्यै—शाधसः सह मादयध्यै। शध्यैन्—वायवे पिबध्यै। तवै—दातवा उ। तवेङ्—सूतवे। तवेन्—कर्त्तवे॥

तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में धातु से वेद में निम्नलिखित पन्द्रह प्रत्यय होते हैं—(१) 'से'—√वच्+से ('चोः कुः' से कुत्व, 'आदेश प्रत्यययोः' से षत्व)=वक्षे=वक्षे। अथवा √वह्+से ('होढः' से ढत्व, 'षढोः कः सि' से 'ढ्' को क्)=वक् से—वक्षे—वक्षे। वक्षे=वक्तुं वोढुं वा, प्रयुक्त वाक्य 'वक्षे रायः' का अर्थ होगा—धनों को पुकारने के लिए अथवा ढोने के लिए। (२) 'सेन् (से)'—√इ+से—गुण, षत्व=एषे (जाने के लिए—एतुम्) 'से' और 'सेन्' इन दो प्रत्ययों में भेद यह है कि 'सेन्' में नित् होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' के अनुसार आद्युदात्त होता है। (३) 'असे'—शरदे जीवसे धाः—√जीव्+असे=जीवसे। (४) 'असेन्'—इस प्रत्यय के करने पर भी वही रूप होगा केवल आद्युदात्त होगा क्योंकि यह प्रत्यय नित् है। (५) 'क्से'—इस प्रत्यय में क् की इत्संज्ञा है (लशक्वतद्धिते) अतएव कित् होने से गुणनिषेध—√इ+से—इषे (षत्व)—प्र+इषे=प्रेषे—(आद्गुणः)। (६) 'कसेन्'—√श्रि+कसेन् (असे)—इयङ् आदेश ('अचिश्नुधातु०'—(६।४।७७) श्रिय्+असे=श्रियसे। नित् होने के कारण यद्यपि इसमें आद्युदात्त होना चाहिये फिर भी इस मन्त्र में मध्योदात्त पढ़ा गया है, ऐसा बाहुलक से हुआ समझा जाय। (७-८) अध्यै—अध्यैन्—√पृ+अध्यै। यद्यपि 'अध्यै' आर्धधातुक है फिर भी 'छन्दस्युभयथा' के अनुसार इसे सार्वधातुक मान कर 'क्र्यादिभ्यः श्ना' से श्ना (ना) विकरण हो गया, प्वादीनां ह्रस्वः से धातु को ह्रस्व, पृ+ना+अध्यै। चूँकि 'अध्यै' सार्वधातुक मान लिया गया है और अपित् भी है अतः ङिद्वत् (सार्वधातुकमपित्) होने से 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से 'ना' के 'आ' का लोप, णत्व—पृणध्यै। 'अध्यैन्' होने पर नित् के कारण आद्युदात्त। (९-१०) कध्यै—कध्यैन्—आ+√हु+अध्यै, कित् होने से गुणाभाव, उवङ् आदेश आहुवध्यै। कध्यैन् होने पर नित् के कारण आद्युदात्त। 'आहुवध्यै' की सिद्धि आ+√ह्वे से भी हो सकती है प्रत्यय कित् है ही, 'वचिस्वपियजादीनां किति' से ह्वे का सम्प्रसारण (यजादिगणीय होने

से) तथा 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप हो कर, उवङ् कर दिया जाय। (११) शध्यै—√मद् + णिच् + शध्यै। यहाँ यह प्रत्यय भाववाची सार्वधातुक है अतः 'सार्वधातुके यक्' ३।१।६७ से यक् प्राप्त होने पर व्यत्यय से शप्, गुण और आय् आदेश—मादयध्यै। (१२) शध्यैन्—√पा + शध्यैन् (अध्यै)। यहाँ भी पूर्ववत् 'यक्' न होकर व्यत्यय से शप्, अतएव पिव् आदेश—पिव् + अ + अध्यै 'अतो गुणे' से पररूप—पिवध्यै। (१३)√दा + तवै=दातवै (दातुम्)। (१४)√सू + तवेङ्=सूतवे (ङित्वात् गुणनिषेध), (१५) √कृ + तवेन् (गुण होकर)=कर्त्तवे।

नागेश जी का कथन है कि कध्यै, कध्यैन्, शध्यै और शध्यैन् ये चार प्रत्यय अनावश्यक हैं क्योंकि इनके कार्य तो अध्यै, अध्यैन् से ही बाहुलक द्वारा सिद्ध हो सकते हैं। 'पिवध्यै' में 'पा' का पिव् आदेश बाहुलक द्वारा कर देने से शध्यैन् के शित्त्व का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है तथा 'आहुवध्यै' में भी बाहुलक से गुणनिषेध कर देने से तदर्थं कध्यैन् को कित् करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इस प्रकार उक्त चारो प्रत्यय व्यर्थ हैं—ऐसा दीक्षित जी का विचार सूचित होता है।

५१. प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै ३।४।१०—एते तुमर्थे निपात्यन्ते। प्रयातुं रोढुम्, अव्यथितुमित्यर्थः॥

तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में प्र + √या से प्रयै (प्रयातुम्), √रुह् से रोहिष्यै, नञ् + √व्यथ् से अव्यथिष्यै (अव्यथितुम्) निपातन से सिद्ध होते हैं।

प्र + √या + कै (ऐ)—आ का लोप (आतो लोप इटि च)—प्रयै। √रुह् + इष्यै=(गुण) रोहिष्यै। नञ् + √व्यथ् + इष्यै=अव्यथिष्यै।

५२. दृशे विख्ये च ३।४।११—द्रष्टुं विख्यातुमित्यर्थः।

दृशे √दृश् + के (कित्वात् गुणनिषेध) और वि + √ख्या + के (कित्वात् आकार का लोप—आतो लोप इटि च) विख्ये शब्द भी तुमुन् के अर्थ में निपातन से सिद्ध होते हैं। (लोक में द्रष्टुम् और विख्यातुम्)।

यह अवधेय है कि दृशे और विख्ये का भी पाठ पूर्वसूत्र (५१) में ही किया जा सकता था इसे अलग पढ़ना निष्प्रयोजन प्रतीत होता है।

५३. शकि णमुल्कमुलौ ३।४।१२—शक्नोतावुपपदे

तुमर्थे एतौ स्तः। 'विभाजं नाशकत्' 'अपलुपं नाशकत्'। विभक्तुम् अपलोप्तुमित्यर्थः ॥

शक् धातु यदि उपपद में हो तो धातुओं से तुमुन् के ही अर्थ में णमुल् और कमुल् ये दो प्रत्यय होते हैं। यथा—विभाजं नाशकत्,' 'अपलुपं नाशकत्'। (विभाग या अपलोप नहीं कर सका)। वि + भ√ज् + णमुल्—(णित्वात् 'अत उपधायाः' से उपधा 'अ' की वृद्धि 'आ) विभाजम्। अप् + √लुप् + कमुल्—(कित्त्वात् धातु के उपधा का गुणनिषेध) अपलुपम् । (लोक में विभक्तुम्, अपलोप्तुम्) । 'अशकत्' में लुङ् लकार मानने पर शक्लृ धातु के लृदित् होने से 'च्लि' को अङ् हुआ है ('पुषादि० ३।१।५५) लङ् लकार मानने पर व्यत्यय से 'श्ना' विकरण के स्थान पर 'श' विकरण।

५४. ईश्वरे तोसुन्कसुनौ ३।४।१३—'ईश्वरो विचरितोः'। 'ईश्वरो विलिखः'। विचरितुम्, विलेखितुमित्यर्थः।

ईश्वर शब्द के उपपद में होने पर वेद में 'तोसुन्' और 'कसुन्' प्रत्यय होते हैं। यथा–'ईश्वरो विचरितोः,' 'ईश्वरो' 'विलिखः'। वि + √चर् + तोसुन्–(इट्का आगम)–विचरितोः (लोक में विचरितुम्)=विचरण। में समर्थ। वि + √लिख् + कसुन् (अस्)–कित् होने से उपधा के गुण का निषेध–विलखः (लोक में विलेखितुम्)= लिखने में समर्थः।

५५. कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः ३।४।१४—'न म्लेच्छितवै'। अवगाहे दिदृक्षेण्यः। 'भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्'।

कृत्यप्रत्यय के अर्थ में अर्थात्[1] भाव-कर्म में वेद में धातु से तवै, केन्, केन्य और त्वन् ये चार प्रत्यय होते हैं। यथा—

(१) न म्लेच्छितवै। √म्लेच्छ् + तवै=म्लेच्छ्तवै + 'तवै' वलादि-आर्धधातुक है अतएव इट् का आगम)=म्लेच्छितव्यम् अस्माभिः (भाववाच्य में)।

विमर्श—'तवै' प्रत्यय तुमुन् के अर्थ में भी होता है (देखिये पूर्वोक्तसूत्र५०) किन्तु यहाँ 'तवै' प्रत्यय से कृत्यार्थ–भाव, कर्म और अर्हता वाच्य है, कृत्यप्रत्यय अर्हता के अर्थ में भी होते हैं (अर्हे कृत्यतृचश्च)।

---

१. 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' के अनुसार कृत्यप्रत्यय भावकर्म में ही होते हैं।

(२) 'अवगाहे'—अव√+गाह् + केन्=अवगाहितव्यम् ।

(३) 'दिदृक्षेण्यः'—सन्नन्त दृश्—√दिदृक्ष + केन्य (एन्य), 'अतो गुणे' से पररूप, 'रषाभ्यां नो णः समानपदे'—'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' के अनुसार 'न्' को ण्—दिदृक्षेण्यः=दिदृक्षणीयः (देखने की इच्छा करने योग्य कर्मवाच्य)।

(४) कर्त्वम्—√कृ+त्वन् (गुण—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः')=कर्त्वम् करणीयम्, करने योग्य ।

५६. अवचक्षे च ३।४।१५—'रिपुणा नावचक्षे' । अवख्यातव्यमित्यर्थः ॥

अव पूर्वक√चक्ष् से वेद में एश् प्रत्यय का निपातन करके कृत्य प्रत्यय के अर्थ में ही 'अवचक्षे' पद बनता है । अव + √चक्ष् + एश् (ए)=अवचक्षे । एश् शित् है अतः सार्वधातुक हुआ (तिङ्शित्सार्वधातुकम्) अतएव 'चक्षिङः ख्याञ्' से ख्याञ् आदेश नहीं हुआ क्योंकि वह आर्धधातुक के पर होने पर ही लगता है । लोक में 'अवख्यातव्यम्' होगा अर्थात् 'तव्यत्' आर्धधातुक है अतः ख्याञ् आदेश हो जायगा ।

५७. भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुन् ३।४।१६—'आसंस्थातोः सीदन्ति' । आसमाप्तेः सीदन्तीत्यर्थः । उदेतोः । अपकर्तोः । प्रवदितोः । प्रचरितोः । होतोः । आतमितोः । 'काममाविजनितोः संभवामः' इति श्रुतिः ।

भाव के बोध कराने वाले किसी भी अर्थ में वर्तमान स्था, इण्, कृञ्, वद्, चर्, हु, तम्, जन् धातु से तुमुन् के अर्थ में तोसुन् प्रत्यय होता है । यथा—

(१) 'आसंस्थातोः सीदन्ति' । (समाप्तितक के लिए बैठते हैं) सम्पूर्वक 'स्था' धातु समाप्ति के अर्थ में रूढ है (यथा-सद्यः सन्तिष्ठते यज्ञस्तथा शौचमितिस्थितिः । मनु०५।९८) । सम् + √स्था + तोसुन्=संस्थातोः । यहाँ भावलक्षण अवधि का अर्थ रखता है ।

उदेतोः—उत् + √इ + तोसुन् (तोस्), गुण (सार्वधातुकार्धधातुकयोः') =उदेतोः । इसी प्रकार—अप + √कृ + तोसुन्=अपकर्त्तोः । प्र + √वद् + इट् + तोसुन्=प्रवदितोः । प्र + √चर् + इट् + तोसुन्=प्रचरितोः ।√ हु + तोसुन्, गुण—होतोः । आ + √तम् + इट् + तोसुन्= आतमितोः ।

वेद में प्रयोग है-काममाविजनितोः संभवामः (कामनाओं के उत्पन्न होने तक क्या हम उत्पन्न होते हैं ?) वि + √जन् + इट् + तोसुन्=विजनि-तोः—आ विजनितोः = आ प्रसवात् ।

५८. सृपि-तृदोः कसुन् ३।४।१७—भावलक्षणे इत्येव। 'पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्'। 'पुरा जत्रुभ्य आतृदः' ॥

इसी भावलक्षण (अवधि) के अर्थ में वर्तमान सृप् तथा तृद् धातु से कसुन् प्रत्यय होता है। यथा 'पुराक्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्' (हे रूपयुक्त, पहले क्रूर व्यक्ति के हटने तक) वि + √सृप् + कसुन् (अस्), कित्वाद् गुणनिषेध= विसृपः। 'पुरा जत्रुभ्य आतृदः'—√तृद् + कसुन्=तृदः,आ तृदः=हिंसा होने तक।

यह अवधेय है कि पूर्वोक्त सूत्र सं०५० से वर्तमान सूत्र सं०५८ तक से विहित प्रत्यय जो मकारान्त हैं जैसे—णमुल्, कमुल् तथा जो एजन्त हैं—ए.ऐ,ओ,औ,से समाप्त होते हैं जैसे—से, सेन्, असे, अध्यै, अध्यैन् इत्यादि, उन से बने सभी शब्द कृन्मेजन्तः १।१।३९ के अनुसार अव्यय हो जाते हैं। इसी प्रकार तोसुन् और कसुन् प्रत्यय से बने शब्द 'क्त्वातोसुन्कसुनः' १।१।४० के अनुसार अव्यय हैं।

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥



चतुर्थोऽध्यायः

(स्त्री-प्रत्यय)

८९. रात्रेश्चाजसौ ४।१।३१——रात्रिशब्दान्ङीप् स्यात् अजस्विषये छन्दसि । 'रात्री व्यख्यदायती ।' लोके तु 'कृदिकारात्...' (गणसूत्र) इति ङीषि अन्तोदात्तः ।

वेद में जस् (प्रथमा बहुवचन) को छोड़कर अन्य स्थानों में 'रात्रि' शब्द के बाद ङीप् प्रत्यय होता है । यथा—रात्री व्यख्यदायती (आते-आते रात फैल गयी) । यहाँ जस् (प्रथमा बहुवचन) का विषय नहीं है, प्रथमा एकवचन का विषय है अतः रात्रि शब्द से 'ङीप्' हुआ—रात्री ।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जस् के विषय में भी वेद में 'रात्र्यः' का प्रयोग देखा जाता है जो 'रात्री' का ही रूप है और वह रात्री शब्द जस् के रहते बन ही कैसे सकता है । इतना ही नहीं, जब यह सूत्र वेद में ही रात्रि शब्द से ङीप् का विधान करता है तो लोक में 'तिमिरपटैरवगुण्ठिता रात्र्यः' का प्रयोग कैसे देखा जाता है ? इसका समाधान करते हैं—एक गण सूत्र है 'कृदिकारादक्तिनः' अर्थात् क्तिन् से भिन्न किसी भी इकारान्त कृदन्त से ङीष् होता है । रात्रि शब्द इकारान्त कृदन्त है क्योंकि 'रा' धातु से औणादिक त्रिप् प्रत्यय हुआ है (राशदिभ्यां त्रिप्) अतः उक्त गण सूत्र से ङीष् प्रत्यय होकर रात्री शब्द बना और यह ङीषन्त रात्री शब्द लोक में भी सर्वत्र, वेद में जस् होने पर भी प्रयुक्त हो सकता है, अतः वेद में देखा जाने वाला जस् विषयक 'रात्र्यः' रूप इसी ङीषन्त 'रात्री' का ही समझा जाय और लोक में भी 'तिमिरपटैरवगुण्ठिता रात्र्यः' में यही ङीषन्त रात्री शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

अब दूसरा प्रश्न खड़ा हो गया कि जब सब जगह के लिए रात्री शब्द बन ही गया तब इतना बड़ा झञ्झट किया ही क्यों गया, ङीप् और ङीष् में भेद क्या रहा ? इसका भी समाधान करते हैं—अभी ऊपर कहा जा चुका है कि 'रात्रि' शब्द में त्रिप् (पित्) प्रत्यय हुआ है, पित् प्रत्यय अनुदात्त होते हैं (अनुदात्तौ सुप्पितौ) उससे ङीप् (पित्) प्रत्यय होने पर भी 'रात्री' का

'त्री' अनुदात्त ही रहेगा। अब बच गया 'रा' वही उदात्त होगा अर्थात् ङीबन्त 'रात्री' शब्द आद्युदात्त हुआ। जब 'रात्रि' से ङीष् होगा तब 'आद्युदात्तश्च' (३।१।३) के अनुसार 'त्री' उदात्त होगा अर्थात् ङीषन्त रात्री शब्द अन्तोदात्त हो जायगा। इस प्रकार स्वर की दृष्टि से ङीप् और ङीष् में बड़ा भेद है।

६०. नित्यं छन्दसि ४।१।४६–बह्वादिभ्यश्छन्दसि विषये नित्यं ङीष्। 'बह्वीषु हि त्वा।' नित्यग्रहणमुत्तरार्थम्॥

वेद में बहु आदि शब्दों से नित्य ङीष् होता है। यथा–'बह्वीषु हित्वा' में बहु शब्द से नित्य ङीष् होकर बह्वी शब्द का प्रयोग हुआ है।

इस सूत्र से ङीष् विधान के आरम्भ सामर्थ्य से ही इसकी नित्यता सिद्ध है, तब सूत्र में नित्य ग्रहण क्यों किया गया? नित्य ग्रहण बाद वाले सूत्रों के लिए है।

६१. भुवश्च ४।१।४७––ङीष् स्याच्छन्दसि। विभ्वी। प्रभ्वी। 'विप्रसंभ्य···' (३।२।१८०) इति डुप्रत्ययान्तं सूत्रेऽनुक्रियते। 'उत' इत्यनुवृत्तेः। उवङादेशस्तु सौत्रः॥

प्रस्तुत सूत्र में 'भु' यह डु प्रत्ययान्त 'भु' का ग्रहण किया गया है (विप्रसंभ्योड्वसंज्ञायाम् ३।२।१८०)। इसका कारण यह है कि पूर्वसूत्र 'वोतो गुणवचनात्' ४।१।४४ से 'उत.' (ह्रस्व उकारान्त से) की इस सूत्र में अनुवृत्ति आती है, ह्रस्व उकारान्त 'भु' की सम्भावना तभी हो सकती है जब भू धातु से 'डु' प्रत्यय लगे। 'भु' से पञ्चमी विभक्ति में 'भोः' (जैसे गुरोः) होता है यह 'भुवः' सूत्र में कैसे कहा गया? यह उवङ् आदेश सौत्र (सूत्र में निर्दिष्ट) कार्य है अतः अविचारणीय है। विभु + ङीष्=विभ्वी। प्रभु+ ङीष्=प्रभ्वी।

(क) 'मुद्गलाच्छन्दसि लिच्च' वा०––ङीपो लित्वम्, आनुक् च आगमः। लित्स्वरः 'रथीरभून्मुद्गलानी'।

यह वार्तिक 'इन्द्रवरुण०' (४।१।४९) सूत्र के विषय में है। मुद्गल शब्द से भी वेद में आनुक् का आगम और ङीष् होता है। यह आगम लित्

(अतिदेश) इस लिए माना गया ताकि 'लिति' सूत्र से 'आनुक्' के 'आ' को उदात्त माना जाय।

उदाहरण—'रथीरभून्मुद्गलानी' (मुद्गल की पत्नी रथी बन गयी)। मुद्गल + आनुक् + ङीष् = मुद्गलानी।

६२. दीर्घजिह्वी च च्छन्दसि ४।१।५९—संयोगोपधत्वादप्राप्तो ङीष् विधीयते। 'आसुरी वै दीर्घजिह्वी देवानां यज्ञवाट् ॥'

दीर्घ जिह्व शब्द से ङीष् नहीं हो सकता था, क्योंकि 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' सूत्र में संयोगोपध का वर्जन किया गया है; प्रकृत सूत्र उस नियम के विरुद्ध 'दीर्घजिह्व' संयोगोपध से वेद में ङीष् का विधान करता है। 'आसुरी वै दीर्घजिह्वी देवानां यज्ञवाट् (देवों के यज्ञ का वहन करने वाली लम्बी जीभ वाली आसुरी है)। दीर्घजिह्व + ङीष् = दीर्घजिह्वी ('यस्येति च' सूत्र से 'ह्व' के 'अ' का लोप समझना चाहिये।

६३. कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि ४।१।७१—ऊङ् स्यात्। कद्रूश्च वै कमण्डलूः। (वा०) 'गुग्गुलुमधुजतुपतयालूनामिति वक्तव्यम्'। गुग्गुलूः। मधूः। जतूः। पतयालूः ॥

वेद में कद्रु और कमण्डलु शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है। जैसे-कद्रु + ऊङ् = कद्रूः। कमण्डलु + ऊङ् = कमण्डलूः। वार्तिक के अनुसार गुग्गुलु (होम-द्रव्यविशेष), मधु, जतु (लाख), पतयालु (पतनशील) शब्दों से भी ऊङ् होता है। जैसे—गुग्गुलु + ऊङ् = गुग्गुलूः। मधु + ऊङ् = मधूः। जतु + ऊङ् = जतूः। पतयालु + ऊङ् = पतयालूः।

(तद्धित-प्रत्यय)

(क) अव्ययात्त्यप् ४।२।१०४—(वा०) 'आविष्ट्यस्योपसंख्यानं छन्दसि।' 'आविष्ट्यो वर्धते'।

६४. छन्दसि ठञ् ४।३।१९—वर्षाभ्यष्ठकोऽपवादः। स्वरे भेदः। वार्षिकम्।

६५. वसन्ताच्च ४।३।२०—ठञ् स्याच्छन्दसि । वासन्तिकम् ।

६६. हेमन्ताच्च ४।३।२१—छन्दसि ठञ् । हैमन्तिकम् । योगविभागः उत्तरार्थः ।

(क) शौनकादिभ्यश्छन्दसि ४।३।१०६ णिनिः—प्रोक्तेऽर्थे । छाणोरपवादः । शौनकेन प्रोक्तमधीयते शौनकिनः । वाजसनेयिनः । छन्दसि किम् ? शौनकीया शिक्षा ॥

'अव्ययात्त्यप्' सूत्र द्वारा अव्यय शब्दों से त्यप् का विधान किया गया है। वार्तिककार ने 'अमेहक्वतसित्रेभ्य एव' वार्तिक कहकर अमा, इह, क्व, तस्, (तसन्त), त्र (त्रान्त) अव्ययों से ही इस त्यप् विधान को नियमित करते हुए वेद के विषय में 'आविसू' शब्द का भी परिगणन करने का निर्देश किया है । जैसे—आविष्ट्यो वर्धते । आविर्भूतः आविष्ट्यः (आविर्भूत वढ़ता है) आविस्+त्यप्, षत्व (ह्रस्वात्तादौ तद्धिते), 'ष्टुनाष्टुः' से 'त्' को 'ट्'—आविष्ट्यः ।

वर्षा शब्द से लोक में ठक् प्रत्यय होता है (वर्षाभ्यष्ठक् ४।३।१८) किन्तु वेद में ठञ् होता है । वर्षासु साधु वार्षिकम् । वर्षा+ठञ् (ठ) 'ठस्येकः' से इक वर्षा+इक, 'तद्धितेष्वचामादेः' से आदि अच् की वृद्धि, 'यस्येति च 'से 'आ' का लोप—वार्षिकम् ।

वसन्त शब्द से वेद में ठञ् प्रत्यय होता है । वसन्त+ठञ्=वासन्तिकम्, पदसिद्धि पूर्ववत् ।

हेमन्तशब्द से वेद में ठञ् प्रत्यय होता है । हेमन्त+ठञ्=हैमन्तिकम् । 'हेमन्ताच्च' ऐसा अलग सूत्रपाठ इसलिए किया गया है कि बाद वाले सूत्रों में हेमन्त शब्द की ही अनुवृत्ति हो ।

'तेन प्रोक्तम्' (४।३।१०१=उसके द्वारा उपदिष्ट) इस अर्थ में वेद में शौनक आदि शब्दों से णिनि प्रत्यय होता है । 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' इस सूत्र के पूर्ववर्ती सूत्रों से छ और अण् प्रत्यय होते हैं, उन्हीं का यह अपवाद है ।

शौनकेन प्रोक्तमधीयते (शौनक प्रोक्त ग्रन्थ का अध्ययन करने वाले) शौनक+णिनि=शौनकिन्, प्रथमा बहुवचन में शौनकिनः । वाजसनेयेन

प्रोक्तमधीयते वाजसनेयिनः, वाजसनेय + णिनि (इन्)—प्र० व० व० में वाजसनेयिनः ।

नागेश जी का कथन है कि यहाँ 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' सूत्र को लाकर रखना लेखक का प्रमाद है क्योंकि इस सूत्र का अर्थ है—'छन्दस्यभिधेये एभ्यो णिनिः'—'शौनकादि प्रोक्त छन्द (वेद) का अध्ययन करने वाले'-इस अर्थ में शौनकादि शब्द से णिनि प्रत्यय होता है (द्रष्टव्य सिद्धान्तकौमुदी, शैषिक प्रकरण में उक्त सूत्र की वृत्ति)। छन्द का अभिधान न होने पर (वेदाङ्ग या लौकिक साहित्य अर्थ होने पर) 'छ' ही होगा। जैसे—शौनकेन प्रोक्ता शौनकीया शिक्षा। सूत्र में 'छन्दसि' का अर्थ 'वैदिक भाषा में'—ऐसा नहीं समझना चाहिये।

६७. द्व्यचश्छन्दसि ४।३।१५०—विकारे मयट् स्यात्। 'शरमयं बर्हिः'। 'यस्य पर्णमयी जुहूः'।

६८. नोत्वद्वर्ध्रबिल्वात् ४।३।१५१—उत्वान् उकारवान्। 'मौञ्जं शिक्यम्'। वर्ध्रं चर्म, तस्य विकारो वार्ध्री रज्जुः। बैल्वो यूपः॥

'तस्य विकारः' (उससे बना हुआ) के अर्थ में दो अच् (स्वर) वाले शब्दों से वेद में मयट् प्रत्यय होता है। जैसे—शरस्य विकारः शरमयं बर्हिः (सरकण्डों की आग)। शर + मयट् = शरमयम् (बर्हिः का विशेषण होने से नपुंसकलिङ्ग)। 'यस्य पर्णमयी जुहूः' (जिसका बर्तन पत्तों का बना हुआ है)—पर्णानां विकारः पर्णमयी। पर्ण + मयट् + ङीप् (स्त्रियाम्) 'टिड्ढाणञ्०' सूत्र से।

यह अवधेय हैं कि ऐसे शब्द जो उकार से युक्त हो तथा वर्ध्र और बिल्व शब्द के दो स्वरों से युक्त होने पर उनसे मयट् प्रत्यय नहीं लगता है 'नोत्वद्वर्ध्रबिल्वात्' प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है। सूत्र में 'उत्वत्' का अर्थ है—उकारवान् अर्थात् उकार से युक्त। यथा—मौञ्जं शिक्यम् (मूँज का बना सिकहर) मुञ्जस्य विकारः मौञ्जम्। यहाँ मुञ्ज शब्द यद्यपि दो स्वर रखता है किन्तु उकार युक्त है अतः मयट् प्रत्यय न होकर अण् प्रत्यय हुआ।

मुञ्ज+अण् (अ) णित् होने से 'तद्धितेष्वचामादेः' सूत्र से आदि अच् 'उ' को वृद्धि 'औ' 'यस्येति च' सूत्र से अकारोत्तरवर्ती अकार का लोप, विभक्ति कार्य-मौञ्जम् ।

वध्रं चर्म तस्य विकारो वार्ध्री रज्जुः । वध्रं शब्द के दो अच् रखने पर भी प्रकृत सूत्र से मयट् का निषेध होने से अण् प्रत्यय—वध्रं+अण्=वाध्र स्त्रियां ङीप् ('टिड्ढाणञ्०') विभक्ति कार्य—वार्ध्री रज्जुः (वध्रं=चमड़ा, उससे बनी रस्सी) । इसी प्रकार बिल्वस्य विकारो बैल्वो यूपः (बेल की लकड़ी का बना खूँटा) बिल्व+अण्=बैल्वः । यहाँ यह अवधेय है कि 'मयट्' का निषेध होने पर सामान्यतः अण् हुआ क्योंकि उत्सर्ग (सामान्य) सूत्रों में अण् का ही विधान हैं ।

६९. 'सभायाः यः'—ढश्छन्दसि ४।४।१०६—सभेयो युवा ॥

लोक में सभा शब्द से 'साधु' अर्थ में 'सभायां यः (४।४।१०५) सूत्र से 'य' प्रत्यय होकर 'सभ्यः' शब्द बनता है किन्तु वेद में 'य' प्रत्यय के स्थान पर 'ढ' प्रत्यय होता है—यथा, सभायां साधुः सभेयः युवा । सभा+ढ=एय (आयनेयीनीयियफढखछघां प्रत्ययादीनाम् ७।१।२) 'यस्येति च' से 'आ' का लोप, विभक्ति कार्य—सभेयः ।

७०. भवे छन्दसि ४।४।११०—सप्तम्यन्ताद्भवार्थे यत् । 'मेघ्याय च विद्युत्याय च' । यथायथं शैषिकाणामणादीनां घादीनां चापवादोऽयं यत् । पक्षे तेऽपि भवन्ति । सर्वविधीनां छन्दसि वैकल्पिकत्वात् । तद्यथा—मुञ्जवान् नाम पर्वतः, तत्र भवो मौञ्जवतः । 'सोमस्येव मौञ्जवतस्य भक्षः' । आ चतुर्थसमाप्तेश्छन्दोऽधिकारः ॥

'तत्र भवः' (उसमें उत्पन्न हुआ)—इस अर्थ में वेद में सप्तम्यन्त पद से यत् प्रत्यय होता है । यथा—'मेघ्याय च विद्युत्याय च' (मेघ और विद्युत

में उत्पन्न—रुद्र के लिए) यहां मेघ शब्द से यत् प्रत्यय होकर 'मेघ्यः' हुआ और चतुर्थी एकवचन में 'मेघ्याय'। इसी प्रकार विद्युत् + यत् + ङे = विद्युत्याय। यह यत् प्रत्यय 'तत्र भवः' सूत्र से प्राप्त शैषिक अण् आदि तथा 'घ' आदि प्रत्ययों का अपवाद है। एक पक्ष में वे अण् आदि यथा विहित प्रत्यय भी होते हैं क्यों कि वेद मे सभी विधियाँ वैकल्पिक हैं। यथा—मुञ्जवान् नाम पर्वतः, तत्र भवः मौञ्जवतः (मुञ्जवान् नामक पर्वत पर होने वाला) मुञ्जवत् + अण्, आदि अच् 'उ' को 'औ' वृद्धि ('तद्धितेष्वचामादेः')। यही मौञ्जवत् शब्द षष्ठ्यन्त (मौञ्जवतस्य) के रूप में 'सोमस्येव मौञ्जवतस्य भक्षः' में प्रयुक्त हुआ है। इस सूत्र से लेकर के चतुर्थ अध्याय के अन्त ('भावे च' ४।४।१४४) तक 'छन्दस्' का अधिकार है अर्थात् इन सूत्रों से हुए विधानो को वेद विषयक ही समझना चाहिए।

७१. पाथोनदीभ्यां ड्यण् ४।४।१११—'तमु त्वा पाथ्यो वृषा'। 'चनो दधीत नाद्यो गिरो मे'। पाथसि भवः—पाथ्यः। नद्यां भवो नाद्यः॥

सप्तम्यन्त पाथस् (जल, वृत्तिकार के अनुसार अन्तरिक्ष) तथा नदी शब्द से भव (उत्पन्न होने वाला) अर्थ में ड्यण् प्रत्यय होता है। यथा—'तमुत्वा पाथ्यो वृषा'— 'पाथसि भवः' इस विग्रह में पाथस् शब्द से ड्यण्। 'चुटू' सूत्र से डकार की तथा 'हलन्त्यम्' सूत्र से णकार की इत्संज्ञा—पाथस् + य। 'यचि भम्' सूत्र से 'पाथस्' की भसंज्ञा होने से 'टे' सूत्र से 'पाथस्' के 'टि' भाग (अस्) का लोप—पाथ्यः। इसी प्रकार—नद्यां भवो नाद्यः, नदी + ड्यण्—णित होने से आदि अच् को वृद्धि, डित् होने से 'टि' भाग 'ई' का लोप—नाद्यः।

७२. वेशन्तहिमवद्भ्यामण् ४।४।११२—भवे। 'वैशन्तीभ्यः स्वाहा'। 'हैमवतीभ्यः स्वाहा'॥

वेशन्त (छोटा तालाब) और हिमवत् शब्द से 'भव' अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। यथा—वेशन्ते भवः वैशन्तः, अप्सु: वैशन्तीभ्यः स्वाहा। वेशन्त + अण्,

आदि अच् को वृद्धि,' यस्येति च' 'तकारोत्तरवर्ती अकार का लोप, 'टिड्ढाणञ्०' से स्त्रियां ङीप्–वैशन्ती, चतुर्थी बहुवचन में वैशन्तीभ्यः ।'

इसी प्रकार हिमवति भवा हैमवत्यः, ताभ्यः हैमवतीभ्यः । हिमवत् + अण् + ङीप् = हैमवती, चतुर्थी बहुवचन में 'हैमवतीभ्यः' ।

७३. स्रोतसो विभाषा ड्यड्ड्यौ ४।४।११३––पक्षे यत् । ड्यड्ड्ययोस्तु स्वरे भेदः । स्रोतसि भवः स्रोत्यः । स्रोतस्यः ॥

सप्तम्यन्त स्रोतस् शब्द से 'भव' अर्थ में ड्यट् और ड्य प्रत्यय विकल्प से होते हैं, एक पक्ष में 'भवे छन्दसि' (४।४।११०) से 'यत्' प्रत्यय भी होता है । 'ड्यट्' और 'ड्य' में केवल स्वर में भेद है, वैसे डित् दोनों हैं अतएव समान रूप से 'टि' का लोप होता है ।

यथा–स्रोतसि भवः स्रोत्यः–स्रोतस् + ड्यट् या ड्य = (टि'अस्' का लोप) स्रोत् + य = स्रोत्यः । यत् होने पर 'डित्' न होने के कारण टिलोप नहीं होगा–स्रोतस्यः ।

विमर्श–ड्यड्ड्यौ' में दो प्रकार से सन्धि-विच्छेद हो सकता है (१)ड्यत् ड्यौ, (२) ड्यट् + ड्यौ । अर्थात् प्रथम प्रत्यय ड्यत् है या ड्यट् ! ऊपर मैंने ड्यट् प्रत्यय अन्य विद्वान् व्याख्याकार 'ऋषि' जी के अनुरोध से लिखा है । मेरा निजी विचार है कि ड्यत् · ड्यौ–ऐसा विच्छेद करके ड्यत् प्रत्यय मानना ठीक है । 'ड्यत्' औ 'ड्य' दोनों प्रत्ययों से बने शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' होगा इस प्रकार भेद केवल स्वर में ही होगा । यदि ड्यट् प्रत्यय मानते हैं तो टित् होने से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होगा और दूसरे में टाप्, इस प्रकार स्वरभेद के अतिरिक्त एक दूसरा भेद भी दोनों प्रत्ययो में आ जाता है । 'ड्यड्ड्यौ' यह 'वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ' (४।२।९) में भी आ चुका है । वहाँ 'ड्यत् + ड्य' विच्छेद मानकर ड्यत् प्रत्यय ही माना गया है, ड्यट् नहीं । वहाँ बालमनोरमाकार 'ड्यत्' और 'ड्य' के डित्त्व का प्रयोजन 'टिलोप' बताते हुए ड्यत् के तित्त्व को स्वरार्थं कहते हैं–डित्त्वाट्टिलोपः, तित्त्वं स्वरार्थम् ।

७४. सगर्भसयूथसनुताद्यन् ४।४।११४––अनुभ्राता सगर्भ्यः । अनुसखा सयूथ्यः । 'यो नः सनुत्य उत वा

जिघत्नुः। नुतिर्नुतम्। 'नपुंसके भावे क्तः' (३।३।११४)— सगर्भादयस्त्रयोऽपि कर्मधारयाः। 'समानस्य छन्दसि···' (६।३।८४) इति सः। ततो भवार्थे यन्। यतोऽपवादः।

सगर्भ, सयूथ और सनुत शब्द से 'भव' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय न होकर यन् होता है। यत् और यन् प्रत्यय में केवल स्वर का भेद है। सगर्भ आदि तीनों शब्द कर्मधारय हैं (समानश्चासौ गर्भश्चेति सगर्भः इत्यादि) 'समानस्य छन्दसि०' (६।३।८४) से समान के स्थान पर 'स' आदेश हो गया है। सगर्भे भवः सगर्भ्यः (छोटा भाई)। सगर्भ+यन्=सगर्भ्यः। इसी प्रकार—समानश्चासौ यूथश्चेति सयूथः, तत्र भवः सयूथ्यः। सयूथ+यन्=सयूथ्यः (मित्र)। समानं च तत् नुतं चेति सनुतम्, तत्र भवः सनुत्यः। सनुत+यन्=सनुत्यः। 'नुत' शब्द का अर्थ है नुति या नमस्कार। 'नु' धातु से नपुंसके भावे क्तः' (३।३।११४) सूत्र से भाव में क्त प्रत्यय हुआ है और नपुंसक लिङ्ग है।

यह यन् प्रत्यय 'भवे छन्दसि' (४।४।११०) से होने वाले यत् प्रत्यय का अपवाद है।

७५. तुग्राद्घन् ४।४।११५— भवेऽर्थे। पक्षे यदपि। 'आ वः शर्मं वृषभं तुग्र्यासु'—इति बह्वृचाः। तुग्रियास्विति शाखान्तरे। धनाकाशयज्ञवरिष्ठेषु तुग्रशब्द इति वृत्तिः।

तुग्र शब्द से 'भव' के अर्थ में घन् प्रत्यय होता है 'घन्' में नकार की 'हलन्त्यम्' सूत्र से इत्संज्ञा हो जती है,'घ' का इय ('आयनेयीनीयियः०' ७।१।२)= तुग्रियः। चूँकि छन्द में सभी विधान विकल्प से होते हैं अतः 'घन्' के अभाव में यत् (भवे छन्दसि ४।४।११०) होकर तुग्र्यः' बनेगा। बह्वृचों के अनुसार तुग्र्यः(यत् प्रत्ययान्त) दूसरी शाखाओं में। 'तुग्रिय' (घन्प्रत्ययान्त) पढ़ा जाता है। काशिकावृत्तिकार के अनुसार तुग्र शब्द धन, आकाश, यज्ञ तथा वरिष्ठ (सर्वश्रेष्ठ) का वाचक है।

७६. अग्राद्यत् ४।४।११६।

७७. घच्छौ च ४।४।११७—चाद्यत्। अग्रे भवः अग्र्यः' अग्रियः, अग्रीयः।

सप्तम्यन्त अग्र शब्द से 'भव' (उत्पन्न) के अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है तथा 'घ' और 'छ' प्रत्यय भी होते हैं। अग्रे भवः अग्र्यः, अग्रियः, अग्रीयः। अग्र+यत्=अग्र्यः। अग्र+घ (इय)=अग्रियः। अग्र+छ (ईय)= अग्रीयः।

७८. समुद्राभ्राद् घः ४।४।११८—'समुद्रिया अप्सरसो मनीषिणम्' 'नानदतो अभ्रियस्येव घोषाः॥'

सप्तम्यन्त समुद्र और अभ्र शब्द से 'भव' (उत्पन्न) के अर्थ में 'घ' प्रत्यय होता है। समुद्रे भवाः समुद्रियाः अप्सरसः। समुद्र+घ (इय)+टाप् (स्त्रियाम्) = समुद्रियाः (प्रथमा बहुवचन)। अभ्रे भवः अभ्रियस्तस्य अभ्रियस्य। अभ्र+घ (इय) = अभ्रियः—अभ्रियस्य (षष्ठी एकवचन)।

७९. बर्हिषि दत्तम् ४।४।११९—'प्राग्घिताद्यत्' (४।४।७५) इत्येव। 'बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।'

सप्तम्यन्त बर्हिस् शब्द से 'दत्त' (दिया गया) के अर्थ में 'प्राग्घिताद्यत्' (४।४।७५) सामान्य सूत्र के द्वारा ही यत् प्रत्यय होता है। यथा—बर्हिषि (अग्नौ) दत्ताः बर्हिष्यास्तेषु बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु (अग्नि में दी गयी प्रिय निधियों में)। बर्हिस्+यत् (स् को ष् 'आदेशप्रत्यययोः) = बर्हिष्य-बर्हिष्येषु (सप्तमी बहुवचन)।

८०. दूतस्य भागकर्मणी ४।४।१२०—भागः अंशः। दूत्यम्।

षष्ठ्यन्त दूतशब्द से भाग (अंश) और कर्म (काम) के अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। यथा—दूतस्य भागः दूत्यः। दूतस्य कर्म दूत्यम्।

दूत+यत् = दूत्यः, दूत्यं वा। भाग अर्थ में 'तस्येदम्' सूत्र से 'अण्' प्राप्त था, उसे बाधित कर यत् प्रत्यय का विधान किया गया। कर्म अर्थ में 'दूतवणिग्भ्यां च' इस वार्तिक से 'य' प्रत्यय प्राप्त था उसे बाधित किया।

८१. रक्षोयातूनां हननी ४।४।१२१—'या ते अग्ने रक्षस्या तनूः' ॥

षष्ठी वहुवचनान्त 'रक्षस्' और 'यातु' शब्द से हननी (मारने वाली) के अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। यथा—'या ते अग्ने रक्षस्या तनूः (हे अग्नि, तुम्हारा जो शरीर राक्षसों का विनाशक है) रक्षस्+यत्+टाप् (स्त्रियाम्) = रक्षस्या। हन्यतेऽनयेति हननी, रक्षसां हननी=रक्षस्या। इसी प्रकार यातूनां हननी यातव्या। यातु+यत्—यातो+य ('ओर्गुणः)—यातव्य ('वान्तो यि प्रत्यये' से 'ओ' का अवादेश) ततः स्त्रियां टाप्—यातव्या। 'रक्षस्' और 'यातु' दोनों शब्द समानार्थक हैं फिर भी सूत्र में स्पष्टता के लिए 'विरूपाणामपि समानार्थानाम्' वार्तिक के अनुसार एकशेष द्वन्द्व नहीं किया गया। सूत्र में वहुवचन का निर्देश देवताओं की स्तुति के लिए है—वहुत राक्षसों के मारने में स्तुति की प्रतीति हो रही है।

८२. रेवती जगतीहविष्याभ्यः प्रशस्ये ४।४।१२२—प्रशंसने यत्स्यात्। रेवत्यादीनां प्रशंसनं—रेवत्यम्। जगत्यम्, हविष्यम्।

यथा—रेवत्यादीनां प्रशंसनम् रेवत्यम्, जगत्यम्, हविष्यम्, प्रशस्ये=प्रशंसने = प्र+√शंस्+क्यप् (भावे)। षष्ठ्यन्त रेवती, जगती और हविष्या शब्द से प्रशंसन के अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। यथा—रेवत्याः प्रशंसनम् = रेवत्यम्, रेवती+यत् (यस्येति च' से 'ई' का लोप होने पर) = रेवत्यम्। इसी प्रकार जगत्याः प्रशंसनम् जगत्यम् (जगती की प्रशंसा), हविष्यायाः प्रशंसनम् हविष्यम् (हविष्या की प्रशंसा) हविष्या+यत्, 'यस्येति च' सूत्र से 'आ' का लोप हविष्यम्।

८३. असुरस्य स्वम् ४।४।१२३—असुर्यं देवेभिर्धायि विश्वम्।

षष्ठ्यन्त असुर शब्द से 'तस्य स्वम्' (उसका धन) के अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। यथा—असुर्यं देवेभिर्धायि विश्वम् (सारा असुर्य—असुरों का धन

देवों के द्वारा धारण किया गया। 'असुराणां स्वम्' इस विग्रह में 'असुर' शब्द से 'स्वम्' के अर्थ में यत् प्रत्यय-असुर + यत्, 'यस्येति च' से अन्तिम 'अ' का लोप-असुर्यम्।

८४. मायायामण् ४।४।१२४—आसुरी माया।

असुरस्य माया (असुर की, असत् अर्थ प्रकाशिका शक्ति) के अर्थ में, षष्ठ्यन्त असुर शब्द से अण् प्रत्यय होता है। असुर + अण् (अ), णित्त्वात् आदि अच् को वृद्धि 'आ'। 'यस्येति च' सूत्र से रकारोत्तरवर्ती अकार का लोप, स्त्रियां ङीप् (टिड्ढाणञ्०)=आसुरी माया।

८५. तद्वानासामुपधानो मन्त्र इतीष्टकासु लुक्च मतोः ४।४।१२५—वर्चस्वानुपधानो मन्त्र आसामिष्टकानां वर्चस्याः। ऋतव्याः।

वैदिक यज्ञों में ईटों का उपधान (रचना या चयन) भी अन्यकर्मों की तरह किसी न किसी मन्त्र के पाठ से सम्पन्न किया जाता है। तत्तन्मन्त्र के किसी शब्दविशेष को लेकर उससे मतुप् प्रत्यय जोड़ते हुए, उस उपधानमन्त्र का उस मतुवन्त (तद्वान्, उस शब्द से युक्त होने वाला) शब्द से सुविधा के लिए निर्देश किया जाता है। कभी-कभी इस प्रकार से निर्देश करने के लिए मन्त्रगत शब्दविशेष को न लेकर उस मन्त्र के सामान्य अर्थ के बोधक शब्द को लेकर उससे मतुप् प्रत्यय जोड़ते हैं। जैसे ईटों का एक उपधान मन्त्र है—'भूतं च तस्थ भव्यं च स्थ देवस्य वः सवितुः प्रसवे' इत्यादि। इस मन्त्र में वर्चस् का अर्थ आ गया है, अतः वर्चस् शब्द से मतुप् लगाकर इसे 'वर्चस्वान् उपधान मन्त्र' कहते हैं।

ऐसे तद्वान् (शब्द विशेष वाला) उपधान मन्त्र रहने पर, उस तद्वान् (मतुवन्त) शब्द से ईटों का बोध कराने के लिए यत् प्रत्यय लगता है और मतुप् का लुक् हो जाता है। यथा—वर्चस्वानुपधानो मन्त्र आसामिष्टकानां वर्चस्याः (वर्चस्वान् उपधान मन्त्र जिन ईटों का है वे वर्चस्याः कही जाती हैं) वर्चस्वान् शब्द से यत् प्रत्यय हुआ और मतुप् का लोप होकर वर्चस्य बना, तब स्त्रियां टाप् वर्चस्या, प्रथमा बहुवचन में वर्चस्याः। इसी प्रकार ऋतुमानुपधानो मन्त्र आसामिष्टकानाम् ऋतव्याः ऋतुमान् +

यत्, मतुप् का लुक् = ऋतु + य–'ओर्गुणः' से 'उ' को गुण 'ओ'। 'वान्तोयि प्रत्यये' से 'ओ' को अवादेश = ऋतव्य टाप् प्रथमा वहुवचन में ऋतव्याः।

८६. अश्विमानण् ४।४।१२६–आश्विनीरुपदधाति।

जिन ईंटों का उपधान अश्विमान् मन्त्र से किया जाता है उनका बोध कराने के लिए अश्विमान् शब्द से अण् होता है तथा मतुप् का लुक् हो जाता है। यथा—आश्विनीरुपदधाति (ऐसी ईंटों का उपधान करता है जिनके उपधान में अश्विमान् मन्त्र पढ़ा जाता हैं) अश्विन् + मतुप्=अश्विमान्। अश्विमान् + अण्, मतुप् का लुक्–अश्विन् + अ, 'इनण्यनपत्ये'सूत्र के अनुसार 'इन्' का प्रकृतिभाव हो गया अर्थात् 'नस्तद्धिते' सूत्र से 'टि' (इन्) का लोप नहीं हुआ। 'तद्धितेष्वचामादेः' से आदि अच् 'अ' को वृद्धि 'आ', टिड्ढाणञ्० से स्त्रियां ङीप्– आश्विनी–द्वितीया वहुवचन में आश्विनीः।

८७. वयस्यासु मूर्ध्नो मतुप् ४।४।१२७—तद्वानासामिति सूत्रं सर्वमनुवर्तते। मतोरिति पदमावर्त्य पञ्चम्यन्तं बोध्यम्। मतुवन्तो यो मूर्धशब्दः ततो मतुप् स्यात् प्रथमस्य मतोर्लुक्च, वयःशब्दवन्मन्त्रोपधेयास्विष्टकासु। यस्मिन्मन्त्रे मूर्धवयःशब्दौ स्तः तेनोपधेयासु। मूर्धन्वतीरुपदधातीति प्रयोगः।

यह अवधेय हैं कि पूर्वसूत्र (८५) 'अद्वानासामुपधानो मन्त्र इतीष्टकासु-लुक् च मतोः (४।४। १२५) की सम्पूर्ण-रूप से इस सूत्र में' अनुवृत्ति होती है और 'मतोः' की अनुवृत्ति होने पर यहाँ वह पञ्चम्यन्त में बदल जाता है जब कि उस सूत्र में षष्ठ्यन्त है।

वैदिक यज्ञों में ईंटों के उपधान का एक अन्य मन्त्र भी है 'भूर्धा वयः प्रजापतिच्छन्दः'। यह मन्त्र वयः शब्द से युक्त (वयस्वान्) है अतएव इस मन्त्र से उपधेय ईंटों को 'वयस्या' करेंगे। वयस्वान् शब्द से 'तद्वानासामपुधानो मन्त्रः०' से यत् तथा स्त्रियां टाप् होकर वयस्या शब्द वनता है। उपर्युक्त मन्त्र में ही 'मूर्धा' शब्द भी है अतएव यह मन्त्र 'मूर्धवान्' भी है और इसी मूर्धवान् मन्त्र से उपधेय ईंटों की विवक्षा होने पर 'मूर्धवान्' शब्द जे प्रास यत् का बाधकर प्रकृत सूत्र से मतुप् प्रत्यय होता है तथा 'मूर्धवान्' शब्द में पहिले जो मतुप्

प्रत्यय हुआ है उसका लुक् हो जाता है। उदाहरण—मूर्धन्वतीरुपदधाति (मूर्धन्वान् उपधान मन्त्र से उपधेय ईंटों का उपधान करता है)। मूर्धवान् मतुप्, प्रथम मतुप् का लुक्—मूर्धन् मत्। 'मादुपधायाश्च मतनोर्वोऽयवादिभ्यः' (८।२।९) से मतुप् के मकार को वकार, नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से न लोप होने पर 'अनोनुट्' (८।१।१६) से नुट्का आगम—मूर्धन्वत्।' 'उगितश्च' से ङीप्-मूर्धन्वती।

८८. मत्वर्थे मासतन्वोः ४।४।१२८—नभोऽभ्रम्। तदस्मिन्नस्तीति नभस्यो मासः ओजस्या तनूः ॥

८९. मधोर्ञ च ४।४।१२९—माधवः। मधव्यः।

९०. ओजसोऽहनि यत्खौ ४।४।१३०—ओजस्यमहः। ओजसीनं वा ॥

जिस अर्थ में 'मतुप्' होता है उसी अर्थ में प्रथमान्त शब्द से यत् प्रत्यय होता है यदि उस यत् प्रत्यय से वना शब्द मास या शरीर का वाचक हो। जैसे नभस्=अभ्र मेघ। तत् (नभः) अस्मिन्नस्ततीति नभस्यः। (वह नभस् जिस महीने में होता है वह 'नभस्यः (श्रावण) मास कहलाता है) नभस् + यत्=नभस्यः। इसी प्रकार 'ओजोऽस्यामस्तीति ओजस्या तनूः (वह शरीर जिसमें ओजस् हो) ओजस्+यत् + टाप् स्त्रियाम् (तनू शब्द स्त्री लिङ्ग)= ओजस्या।

मतुप् के अर्थ में मधु शब्द से 'ञ' प्रत्यय और 'चकार' के वल से यत् प्रत्यय भी होता है, यदि मास अर्थ हो। यथा—मध्वस्मिन्नस्तीति माधवः, मधव्यः। मधु + ञ, 'चुटू' से 'ञ्, की इत्संज्ञा-मधु+अ, 'तद्धितेष्वचामादेः' सूत्र से आदि अच् (अ) की वृद्धि (आ), 'ओर्गुणः' सूत्र से 'उ' को गुण (ओ), 'एचोऽयवायावः' से 'ओ' को अव्=माधवः। इसी प्रकार मधु + यत् (य)= मधव्यः (गुण और 'वान्तो यि प्रत्यये' सूत्र से 'ओ' को अव्) वसन्त का महीना।

ओजस् शब्द से यदि अहन् (दिन) का अर्थ वाच्य हो तो मतुप् के अर्थ में यत् और ख प्रत्यय होते हैं। यथा—ओजोऽस्मिन्नस्तीति ओजस्य महः ओजसीनं वा (वल देने वाला दिन) ओजस् + यत्=ओजस्यम्। ख प्रत्यय होने पर ख् को ईन् आदेश=ओजसीनम्।

९१. वेशोयशआदेर्भगाद्यल् ४।४।१३१—यथासंख्यं नेष्यते। वेशो बलं, तदेव भगः इति कर्मधारयः। वेशोभग्यः। वेशोभगीनः। यशोभग्यः। यशोभगीनः।

(क) ख च ४।४।१३२—योगविभाग उत्तरार्थः, क्रमनिरासार्थश्च॥

वेशस् और यशस् शब्द आदि में हो तो भग शब्द से यल् और ख प्रत्यय पर्याय से होते हैं। यहाँ दोनों सूत्रों (४।४।१३१ और १३२) को अलग-अलग इस लिये पढ़ा गया है कि यल् और ख प्रत्यय क्रमशः (यथासंख्य) न हों बल्कि पर्याय से दोनों हों—(यथासंख्यं नेष्यते) तथा 'ख च' (४।४।१३२) का पाठ अलग कर देने से बाद के सूत्रों में केवल 'ख' की अनुवृत्ति हो सके। प्रकृत सूत्र से 'यल्' प्रत्यय होता है जब कि इससे पूर्व के सूत्र से यत्। इस यल् और यत् में केवल स्वर का भेद है। वेशः=बल, वही भग (ऐश्वर्य) है—ऐसा कर्मधारय समास है इसी प्रकार यशोभग में भी कर्मधारय समास जानना चाहिए। वेशोभगोऽस्मिन्नस्तीति वेशोभग्यः। वेशोभगीनः। वेशोभग शब्द से मतुप् के अर्थ में यल् (य) होने पर 'यस्येति च' सूत्र से गकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होकर 'वेशोभग्यः' निष्पन्न हुआ। ख प्रत्यय होने पर ख को ईनादेश होकर वेशोभगीनः। इसी प्रकार यशोभग्यः और यशोभगीनः की भी सिद्धि कर लेनी चाहिए।

९२. पूर्वैः कृतमिनयौ च—४।४।१३३ 'गम्भीरेभिः पथिभिः।' पूर्विणेभिः। 'ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासः'।

'पूर्वैः कृतम्' (पहिले के लोगों के द्वारा किया गया, बनाया गया) के अर्थ में 'पूर्व' शब्द से 'इन' और 'य' प्रत्यय होते हैं। 'च' से 'ख' प्रत्यय भी समझना चाहिए। यथा—गम्भीरेभिः पथिभिः पूर्विणेभिः (पूर्वजों द्वारा बनाये गये गम्भीर मार्गों से)। ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासः (हे सवितृदेव, जो मार्ग पूर्वजों के द्वारा बनाये गये हैं……)। पूर्व+इन, 'यस्येति च' से वकारोत्तर वर्ती अकार का लोप, नकार को णत्व—पूर्विणः। पूर्विण+भिस् (भिस् की बाहुलक से से 'अतोभिस ऐस्' के अनुसार ऐस आदेश नहीं हुआ 'बहुलं छन्दसि' ७।१।१०)

'वहुवचने झल्येत्' से अन्तिम अकार को 'ए'। सकार का रुत्व विसर्ग—पूर्विणेभिः। 'य' प्रत्यय होने पर पूर्व+य=पूर्व्यः। पूर्व्य+जस् (अस्) 'आज्जसेरसुक्' (७। १। ५०) सूत्र से जस् के असुक् का आगम हुआ' चूँकि वह कित् है अतः जस् के वाद वैठा—पूर्व + अस् + असुक् (अस्)=पूर्व्यासस्। असुक् के सकार को जो अन्त में है. रुत्वविसर्ग हुआ—पूर्व्यासः। ख प्रत्यय होने पर उसका ईनादेश होकर 'पूर्वीणः' वनेगा।

९३. अद्भिः संस्कृतम् ४।४।१३४—'यस्येदमप्यं हविः'।

'जलों से संस्कृत (परिष्कृत) किया गया' इस अर्थ में 'अप्' शब्द से यत् प्रत्यय होता है। यथा 'यस्येदमप्यं हविः' (जिसका यह जल से संस्कृत—परिष्कृत हव्य···)। अप् + यत्=अप्यम् ('हविः' के अनुसार नपुंसकलिंग)।

९४. सहस्रेण संमितौ घः ४।४।१३५—'सहस्रियासो अपां नोर्मयः'। सहस्रेण तुल्या इत्यर्थः॥

'सहस्र के तुल्य (संमित)' अर्थ में सहस्र शब्द से 'घ' प्रत्यय होता है। यथा—सहस्रियासः। सहस्र+घ (इय), 'यस्येति च' सूत्र से 'सहस्र' शब्द के अन्तिम अकार का लोप—सहस्रिय। सहस्रिय+जस् (अस्) 'आज्जसेरसुक्' से जस् के असुक् का आगम—सहस्रियासस्, सकार को रुत्व-विसर्ग—सहस्रियासः (हजार के तुल्य)।

९५. मतौ च ४।४।१३६—सहस्रशब्दात् मत्वर्थे घः स्यात्। सहस्रमस्यास्तीति सहस्रियः।

सहस्र शब्द से मतुप् के अर्थ में घ 'प्रत्यय होता है। सहस्रमस्यास्तीति सहस्रियः (इसके पास सहस्र है)। सहस्र+घ (इय)=सहस्रियः। लोक में 'तपः सहस्राभ्यां विनीनी (५। २। १०२) के अनुसार 'इनि' प्रत्यय होकर 'सहस्री' तथा 'अण् च' (५। २। १०३) के अनुसार 'अण्' प्रत्यय होकर 'साहस्रः' वनता है।

९६. सोममर्हति यः ४।४।१३७—सोम्यो ब्राह्मणः। यज्ञार्ह इत्यर्थः।

द्वितीयान्त सोम शब्द से 'अर्हति' (योग्य है) के अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है। यथा—सोममर्हति सोम्यः (यज्ञ के योग्य है) सोम + य = सोम्यः।

९७. मये च ४।४।१३८—सोमशब्दाद् यः स्यान्मयडर्थे। सोम्यं मधु। सोममयमित्यर्थः।

९८. मधोः ४।४।१३९—मधुशब्दान्मयडर्थे यत्स्यात्। मधव्यः। मधुमय इत्यर्थः।

सोम शब्द से मयट् के अर्थ में (भी) 'य' प्रत्यय होता है। मयट् के चार अर्थों के अनुसार 'सोम से आगत' इस अर्थ में पञ्चम्यन्त सोमशब्द से 'य, प्रत्यय, 'सोम का विकार अथवा अवयव' इस अर्थ में षष्ठ्यन्त सोम शब्द से 'य' प्रत्यय तथा 'सोम ही (सोम एव)' इस अर्थ में प्रथमान्त सोम शब्द से 'य' प्रत्यय होता है—ऐसा सूत्र का स्पष्टार्थ हुआ। सोम + य=सोम्य (सोममय) मधु। (सोम से आगत, सोम का विकार या अवयव, सोम ही)

मधु शब्दसे मयट् के अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। यथा—मधव्यः। मधुमय इत्यर्थः। मधु + यत् (य), 'ओर्गुणः' सूत्र से 'उ' को गुण (ओ), 'वान्तो यि प्रत्यये' से 'ओ' को अवादेश—मधव्यः (मधु से आगत, मधु का विकार या अवयव, मधु ही)।

९९. वसोः समूहे च ४।४।१४०—चान्मयडर्थे यत्। वसव्यः। (वा०) अक्षरसमूहे छन्दस उपसंख्यानम्। छन्दःशब्दादक्षरसमूहे वर्तमानात्स्वार्थे यदित्यर्थः। 'आश्रावय' इति चतुरक्षरम्, 'अस्तु श्रौषट्' इति चतुरक्षरम्, 'यज' इति द्व्यक्षरम्, 'ये यजामहे' इति पञ्चाक्षरम्, द्व्यक्षरो वषट्कारः। एष वै सप्तदशाक्षरः छन्दस्यः॥

वसु शब्द से 'समूह' अर्थ में यत् 'प्रत्यय होता है। 'च' से मयट् के अर्थ में भी।

यथा—वसव्यः (वसुओं का समूह या विकारादि) वसु + यत् (य) वसो य√वसव्यः।

वार्तिक—अक्षर समूह के अर्थ में वर्तमान छन्दस् शब्द से स्वार्थ (छन्द एव) में यत् प्रत्यय होता है। यथा—'आश्रावय,' 'अस्तु श्रौषट्, 'यज' 'ये यजामहे' तथा 'वषट्' इन शब्दों का समाहार (संयोजन) करने पर (क्रमशः ४ + ४ + २ + ५ + २) कुल सत्रह अक्षरों का छन्दस्य (छन्द) है। यहाँ छन्दस् शब्द से स्वार्थ में यत् प्रत्यय होकर छन्दस्यः शब्द बना है।

१००. नक्षत्राद् घः ४।४।१४१—'स्वार्थे। नक्षत्रियेभ्यः स्वाहा।'

१०१. सर्वदेवात्तातिल् ४।४।१४२—स्वार्थे। 'सविता नः' सुतु सर्वतातिम्।' प्रदक्षिणिर्देवतातिमुराणः' ॥

नक्षत्र शब्द से स्वार्थ से घ प्रत्यय होता है। नक्षत्रियेभ्यः=नक्षत्रेभ्यः। नक्षत्र+घ (इय)=नक्षत्रिय, नक्षत्रियेभ्यः (चतुर्थी बहुवचन)

सर्व और देव शब्द से स्वार्थ में तातिल् प्रत्यय होता है। सर्व एव सर्वतातिः। सर्व+तातिल्=सर्वतातिः। देव एव देवतातिः—देव+तातिल्=देवतातिः।

१०२. शिवशमरिष्टस्य करे ४।४।१४३—करोतीति करः। पचाद्यच्। शिवं करोति इति शिवतातिः। 'याभिः शन्ताती भवथो ददाशुषे'। 'अथो अरिष्टतातये' ॥

शिव, शम् और अरिष्ट इन तीन शब्दों से 'करने वाला' के अर्थ में तातिल् प्रत्यय होता है। करः=√कृ+अच् (पचादित्वात्)=करने वाला। 'शिवं करोति' इस विग्रह में शिव+तातिल्=शिवतातिः। शम्+तातिः=शन्तातिः (म् को अनुस्वार और परसवर्ण), द्विवचन में शन्ताती (जिनसे, तुम दोनों, यजमान के लिए शन्ताति—कल्याण करने वाले होते हो)। अरिष्टं करोति इति अरिष्टतातिः—तस्मै अरिष्टतातये। अरिष्ट+तातिल्=अरिष्टतातिः (सौभाग्य या हानि करने वाला)।

१०३. भावे च ४।४।१४४—शिवादिभ्यो भावे तातिः स्याच्छन्दसि। शिवस्य भावः शिवतातिः। शन्तातिः। अरिष्टतातिः ॥

इन्हीं शिव, शम् और अरिष्ट शब्दों से भाव (सिद्धावस्थापन्ना क्रिया) के अर्थ में भी तातिल् प्रत्यय होता है। शिवस्य भावः—शिव+तातिल्=शिवतातिः (शिवत्व)। शम्+तातिल्=शन्तातिः (मङ्गलमयता)। अरिष्ट+तातिल्=अरिष्टतातिः (शुभावहता या दुःखावहता)।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

१०४. सप्तनोऽञ् छन्दसि ५।१।६१—तदस्य परिमाणम्' (५।१।५७) इति, 'वर्गे' इति च। 'सप्त सा॒प्तानि॑ असृजत्'।

(१) शन्शतोर्डिनिश्छन्दसि तदस्य परिमाणमित्यर्थे वाच्यः (वा०)। पञ्चदशिनोऽर्धमासाः। त्रिंशिनो मासाः।

(२) विंशतेश्चेति वाच्यम् (वा०)। विंशिनोऽङ्गिरसः।

(३) युष्मदस्मदोः सादृश्ये वतुब् वाच्यः (वा०)। त्वाव॑तः पुरूवसो। न त्वावाँ॑ अ॒न्यः। य॒ज्ञं विप्र॑स्य॒ माव॑तः॥

वेद में 'परिमाण' अर्थ में और वर्ग (समूह) अर्थ में सप्तन् शब्द से अञ् प्रत्यय होता है।

इस सूत्र में 'तदस्य परिमाणम् (५।१।५७) से परिमाण की अनुवृत्ति और 'पञ्चद्दशतौ वर्गे वा' (५।१।६०) से वर्ग की अनुवृत्ति हुई है। वर्ग शब्द से प्राणियों और अप्राणियों दोनों के वर्गों का वोध होता है। सप्त साप्तानि असृजत् (सात सप्तवर्गों को रचा)। सप्तन्+अञ् (अ) 'तद्धितेष्वचामादेः' से आदि अच् (अ) को वृद्धि (आ), 'नस्तद्धिते' से टि भाग (अन्) का लोप—साप्त। साप्त+शस् (शिः) जश्शसोः शिः'। 'नपुंसकस्य झलचः (७।१।७२) से नुम् का आगम—साप्त न् इ। 'शि सर्वनामस्थानम्' से 'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा होने से 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६।४।८।) से उपधा (अ) को दीर्घ (आ)=साप्तानि। इसके नपुंसकत्व के विषय में नागेश का कथन है कि आर्ष प्रणोग होने से नपुंसक हुआ (अन्यथा पुँल्लिङ्ग ही है)।

जिन संख्यावाची शब्दों के अन्त में शन् रहता है (जैसे दशन् आदि) अथवा शत् लगा रहता है (जैसे त्रिंशत् आदि) उन से 'परिमाण' के अर्थ में डिनि प्रत्यय लगता है। डिनि में 'इन्' शेष रह जाता है। डकार की 'चुटू' से

इत्संज्ञा हो जाती है और अन्तिम 'इ' को 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा होती है। यथा—पञ्चदशिनोऽर्धमासाः। पञ्चदश दिनानि परिमाणं येषां ते अर्ध मासाः (पन्द्रह दिनों का परिमाण है जिनका वे अर्धमास हैं) पञ्चदशन्+डिनि (इन्), प्रत्यय के डित् होने से 'टेः' (६।४।१४३) से 'टि' भाग (अन्) का लोप—पञ्चदशिन्। पञ्चदशिन्+जस्=पञ्चदशिनः। त्रिंशद्दिनानि परिमाण-मेषा त्रिंशिनो मासाः (तीस दिनों का परिमाण है इनका, ये मास हैं) त्रिंशत्+डिनि (इन्) टिभाग (अत्) का लोप—त्रिंशिन्+जस्=त्रिंशिनः।

'विंशति' शब्द से भी डिनि प्रत्यय होता है। यथा—विंशिनोऽङ्गिरसः। (आङ्गिरस अयास्य, गार्ग्य, गौतम इत्यादि प्रवर भेद से बीस गोत्र जिनका परिमाण है, ऐसे अङ्गिरस लोग)। 'विंशतिर्गोत्राणि परिमाणमेषाम्' इस विग्रह में विंशति शब्द से डिनि प्रत्यय करने पर 'ति विंशतेर्डिति' (६।४।१४२) से 'ति' का लोप करने पर 'विंश+इन्' इस स्थिति में 'यस्येति च' से अकार का लोप=विंशिन्+जस् विभक्ति=विंशिनः।

युष्मद् और अस्मद् शब्द से सादृश्य के अर्थ में वतुप् प्रत्यय होता है। यथा-त्वावतः पुरूवसो (हे बहुधनयुक्त, तुम्हारी तरह का) त्वमिव त्वावान् तस्य त्वावतः। युष्मद्+वतुप् 'प्रत्योत्तरपदयोश्च' इस सूत्र से युष्मद् का 'त्व' आदेश 'आ सर्वनाम्नः' (६।३।९१) से आकार—त्वावत्। उससे प्रथमैकवचन में सु—त्वावत्+सु 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७।१।७०) से नुम् का आगम—त्वावन् त् सु। अत्वसन्तस्य चा धातोः' (६।४।१४) से उपधा (वकारोत्तरवर्ती अकार) को दीर्घ—त्वावान्त् सु। 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से सु का लोप, तकार का संयोगान्त लोप—त्वावान्। न त्वावाँ अन्यः (तुम्हारी तरह दूसरा नहीं) त्वावान्+अन्यः='दीर्घादटि समानपादे' (८।३।९) से न् को रु तथा 'आतोऽटि नित्यम् (१।३।३) से असुनासिक—त्वावाँ अन्यः। यज्ञं विप्रस्य मावतः (मुझ जैसे ब्राह्मण के यज्ञ को) अहमिव मावान् तस्य मावतः। अस्मद्+व तुप्, 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' से अस्मद् का 'म' आदेश। 'आ सर्वनाम्नः' से आत्व-मावत्। मावत्+सु=मावान्।

१०९. छन्दसि च ५।१।६७—प्रातिपदिकमात्रात् 'तदर्हति' (५।१।६३)—इत्यर्थे यत्। 'सादन्यं विदथ्यम्' (ऋ० १।९१।२०)॥

लोक में 'दण्डादिभ्योयत्' (५।१।६६) सूत्र 'अर्हति' (पाने की योग्यता रखता है) के अर्थ में दण्डादिशब्द से यत् का विधान करता है। उसी के बाद यह प्रस्तुत सूत्र है, अतः इसका अर्थ है, वेद में भी सभी प्रातिपदिकों से 'अर्हति' (उसको पाने की योग्यता रखता है) के अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। यथा—सदनमर्हति सादन्यम् (सदन पाने की योग्यता रखता है)। सदन् + यत् (य) 'अन्येषामपि दृश्यते' (६।३।१३७) से दीर्घ सादन + य, 'यस्येति च' से नकारोत्तरवर्ती अकार का लोप और विभक्ति कार्य होने पर सादन्यम्। इसी प्रकार विदथ्यम् = विदथं यज्ञमर्हतीति विदथ्यम्, विदथ + यत्।

१०६. वत्सरान्ताच्छश्छन्दसि ५।१।९१—निर्वृत्तादिष्वर्थेषु। इद्वत्सरीयः।

१०७. संपरिपूर्वात्ख च ५।१।९२—चाच्छः। संवत्सरीणः-संवत्सरीयः। परिवत्सरीणः परिवत्सरीयः॥

जिन शब्दों के अन्त में वत्सर शब्द लगा हो तदन्त शब्द से वेद में निर्वृत्त (पूरा किया गया) आदि अर्थों में 'छ' प्रत्यय होता है। आदि पद से तमधीष्टो भृतो भूतो भावी' अर्थों का ग्रहण होता है। यथा—इद्वत्सरेण (=पञ्चभिर्वर्षैः) निर्वृत्तः, इद्वत्सरमधीष्टो भृतो भूतो भावी वा इद्वत्सरीयः। इद्वत्सर + छ, 'आयनेयीनीयियः०' से छ् को ईय्, 'यस्येति च' से रकारोत्तरवर्ती अकार का लोप—इद्वत्सरीयः (पाँच वर्षों में पूरा किया गया)।

सम् या परि पूर्वक वत्सर शब्द से उन्हीं अर्थों में 'ख' और 'छ' दोनों प्रत्यय होते हैं। संवत्सर + ख (इन) = संवत्सरीणः ('अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से णत्व)। संवत्सर + छ (ईय) = संवत्सरीयः। परिवत्सर + ख = परिवत्सरीणः, परिवत्सर + छ = परिवत्सरीयः। इद्वत्सर का अर्थ है 'पाँच वर्ष' यही अर्थ इदावत्सर, संवत्सर और परिवत्सर शब्द का भी है। 'इद्वत्सरेदावत्सर परिवत्सराः पञ्चवर्षे युग चतुर्णां वर्षाणां संज्ञाः' (नागेशः)।

१०९. छन्दसि घस् ५।१।१०६ ऋतुशब्दात्त दस्य प्राप्तमित्यर्थे। 'भाग ऋत्वियः' ॥

लोक में 'ऋतुः, प्राप्तोऽस्य' (इसका ऋतु—समय आ गया है) के अर्थ में ऋतु शब्द से 'ऋतोरण्' (५।१।१०५) सूत्र से अण् प्रत्यय होकर 'आर्तव'

शब्द बनता है किन्तु वेद में ऋतु शब्द से इसी अर्थ में घस् प्रत्यय होता है। घस् में स् की 'हलन्त्यम्' सूत्र से इत्संज्ञा होती है अर्थात् यह सित् प्रत्यय है। सित्प्रत्यय होने का फल यह होता है कि 'सिति च' (वार्तिक ३६८४) के अनुसार ऋतु शब्द की पदसंज्ञा हो जाने से 'ओर्गुणः' से गुण नहीं हुआ क्योंकि कि वह भ संज्ञक के होता है। तब ऋतु घस्=ऋतु+इय, यणादेश (इकोयणचि)=ऋत्वियः।

१०९. उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे ५।१।११८—धात्वर्थविशिष्टे साधने वर्तमानात्स्वार्थे वतिः स्यात्। यदुद्वतो निवतः (ऋ० ८।७।३०) उद्गतान्निर्गतात् इत्यर्थः॥

उपसर्ग धातुओं के पूर्व में लगा करते हैं। वे श्रूयमाण क्रिया की विशेषता बतलाते हैं, यथा 'आगच्छति' में क्रिया श्रूयमाण है और 'आ' उपसर्ग उसकी विशेषता बता रहा है। जब क्रिया श्रूयमाण नहीं होती तब उपसर्ग क्रियाविशिष्ट साधन मानाजाता है, यथा निष्कौशाम्बिः(निर्गतः कौशाम्ब्याः)में निस् उपसर्ग गम् धातु का साधन बन जाता है। इस प्रकार ये उपसर्ग यदि धातु के अर्थ को बतलाने वाले साधन के रूप में हों तो वेद में इनके अपने ही अर्थ में वति प्रत्यय होता है। उत् (=ऊपर)+वति=उद्वत् (ऊपर गया हुआ)। नि+वति=निवत् (निर्गत) पञ्चमी में उद्वतः, निवतः--(उद्गतात, निर्गतात्)।

११०. थट् च छन्दसि ५।२।५०—नान्तादसंख्यादेः परस्य डटः थट् स्यान्मट् च। पञ्चथम्, पञ्चमम्।

लोक में संख्यावाचक शब्दों से पूरण अर्थ (जैसे प्रथम द्वितीय आदि) में 'तस्य पूरणे डट्' (५।२।४८) से डट् प्रत्यय करते हैं (जैसे एकादशन् से एकादश-ग्यारहवाँ इत्यादि। जो संख्या वाचक शब्द नकारान्त हैं और उनके आदि में कोई संख्यावाचक शब्द नहीं जुड़ा हुआ है (जैसे पञ्चन् सप्तन् इत्यादि) उनसे पूरण अर्थ में हुए डट् प्रत्यय के मट् का आगम होता है। वेद में थट् और मट् यह दो प्रकार का आगम होता है। यथा—पञ्चन् शब्द से पूरण अर्थ में डट् प्रत्यय करने पर उसके थट् का आगम, 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप 'पञ्चथम्' और मट् का आगम होने पर पञ्चमम् बनता है।

(१) छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि ५।२।८९—पर्यवस्थाता शत्रुः। अपत्यं परिपन्थिनम्। मा त्वा परिपरिणो विदन्॥

वेद में परिपन्थिन् और परिपरिन् शब्द, पर्यवस्थाता (शत्रु, विपक्ष) के अर्थ में निपातन से सिद्ध होते हैं। इनमें परि उपसर्ग विरोधार्थक है। यहाँ पर्यवस्थातृ शब्द से स्वार्थ में इनि प्रत्यय और अवस्थातृ शब्द का, पन्थि और परि आदेश का निपातन किया गया है। परिपन्थिन् का द्वितीया में परिपन्थिनम् अपत्यं परिपन्थिनम् (विरोधी सन्तान को)। परिपरिन् शब्द का प्रथमा बहुवचन में परिपरिणः। मा त्वा परिपरिणो विदन् (तुम्हें शत्रु लोग न जान सकें)। यही वैदिक परिपन्थिन् शब्द लोक में भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

१११. बहुलं छन्दसि ५।२।१२२—मत्वर्थेविनिः स्यात्।

(१) छन्दोविन्प्रकरणेऽष्ट्रामेखलाद्वयोभयरुजाहृदयानां दीर्घश्चेति वक्तव्यम् (वा.)। इति दीर्घः। 'मंहिष्ठमुभयाविनम्' (ऋ. ५।७।१९)। 'शुनमष्ट्राव्यचरत्' (ऋ. ८।५। २१)।

(२) छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ (वा)। ई—'रथीरभूत्' (ऋ. ८।५।२०)। 'सुमङ्गलीरियं वधूः' (८।३।२६) 'मघवानमीमहे' (ऋ. ८।८।२५)।

लोक में मतुप् के अर्थ में 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' (५।२।१२१) से असन्त प्रातिपदिक से, माया, मेधा, स्रज्—इन शब्दों से विनि प्रत्यय होता है। वेद में यह मतुप् के अर्थ में होने वाला प्रत्यय बहुल रूप से होता है अर्थात् जहाँ मतुप् न होकर विनि होना चाहिए वहाँ विनि नहीं होता बल्कि मतुप्

होता है। जहाँ विनि नहीं, मतुप् होना चाहिए वहाँ मतुप् न होकर विनि होता है।

वैदिक विन् प्रत्यय के प्रकरण में अष्ट्रा (आरी, पूषा का शस्त्र अथवा दंष्ट्रा) मेखला, द्वय, उभय, रुजा और हृदय इन शब्दों का दीर्घ भी हो जाता है। (इनमें द्वय, उभय और हृदय-इन्हीं तीन शब्दों का दीर्घ प्रयोजनीय है, शेष तो स्वत: दीर्घ हैं)। अष्ट्रा + विन् = अष्ट्रावी। मेखला + विन्=मेखलावी। द्वय+ विन्=द्वयावी। उभय् + विन्=उभयावी, द्वितीया में उभयाविनम्—मंहिष्ठमुभयाविनम् (जो दोनों से युक्त, सबसे बड़े हैं उन्हें)। रुजा + विन्=रुजावी। शुनमष्ट्राव्यचरत्। ('आरी या दंष्ट्रा से युक्त पूषा कुत्ते पर चलते हैं)। हृदय+ विन्=हृदयावी। यह अवधेय है कि विन् प्रत्ययान्त तत् प्रातिपदिक शब्द से 'सु' विभक्ति आनेपर 'सौ च' (६।४।११३) से उपधा (इ) को दीर्घ होता है। 'सु' का 'हल्ङ्याब्भ्य:——' से लोप और नकार का 'नलोप: प्रातिपदिकान्तस्य' से लोप होता है।

वेद में मतुप् के अर्थ में 'ई' और 'वनिप्' प्रत्यय भी होते हैं। यथा रथ + ई, 'यस्येति च' से थकारोत्तरवर्त्ती अकार का लोप रथी: (रथ वाला)। सुमङ्गल + ई' अकार का लोप——सुमङ्गली:। सुमङ्गलीरियं वधू: (कल्याणयुक्त यह वधू)। मघं धनमस्यास्तीति मघवा। मघ + वनिप्=मघवन्' द्वितीया एक वचन में मघवानम् ('सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (६।४।८) से उपधा का दीर्घ)। लोक में मतुप् प्रत्यय होता है। 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्य:' (८।२।९) से म् को व् होकर मघवत् शब्द बनता है तब मघवान् मघवन्तौ इत्यादि रूप चलता है। मघवानमीमहे (धनवान् से याचना करते हैं)।

११२. तयोर्दार्हिलौ च च्छन्दसि ५।३।२०——इदन्तदोर्यथासंख्यं स्तः। इदा हि व उपस्तुतिम्। तर्हि॥

११३. था हेतौ च च्छन्दसि ५।३।२६——किमः था स्यात् हेतौ प्रकारे च। 'कथा ग्रामं न पृच्छसि'। 'कथा दाशेम'॥

इदम् और तद् शब्द से काल के अर्थ में वेद में क्रमश: 'दा' और 'र्हिल्' प्रत्यय होते हैं। यथा—इदा हि व उपस्तुतिम्—इस समय तुम्हारी स्तुति

(करते हैं) । अस्मिन् काले इदा । इदम्+दा, इदम इश् (५।३।३) से इदम् का इश् आदेश जो शित् होने से पूरे इदम् के स्थान पर हुआ--इदा । तस्मिन् काले तर्हि । तद्+र्हिल्, ल् की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा । 'प्राग्दिशो विभक्तिः' इस सूत्र के अधिकार से र्हिल् की विभक्ति संज्ञा होने से 'त्यदादीनामः' (७।२।१०२) ये तद् का अकारान्तादेश तथा 'अतोगुणे' (६।१।९७) से पररूप--तर्हि ।

प्रकार वचन में थाल् प्रत्यय होता है किन्तु वेद में थाल् प्रत्यय प्रकार और हेतु दोनों अर्थों में किम् शब्द से होता है । यथा--'कथा ग्रामं न पृच्छसि' (गाँव को कैसे नहीं पूछते हो ?) कथा दाशेम' क्यों दिया जाय ? इन उदाहरणों में प्रकार हेतु दोनों अर्थों में थाल् प्रत्यय हुआ है । किम्+थाल् (था), थाल् की विभक्ति संज्ञा है अतः 'किमः कः' से किम् का 'क' आदेश हुआ है--कथा ।

११४. पश्च पश्चा च च्छन्दसि ५।३।३३—अवरस्य अस्तात्यर्थे निपातौ । 'पश्च हि सः' । नो ते पश्चा' ।।

लोक में 'दिक्छब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमी—प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः' (५।३।२७) सूत्र से सप्तम्यन्त पञ्चम्यन्त प्रथमान्त दिशावाची शब्दों से स्वार्थ में अस्ताति प्रत्यय होता है । वेद में इसी अस्ताति प्रत्यय के अर्थ में अवर शब्द के स्थान में पश्च आदेश तथा 'अ' और 'आ' प्रत्यय निपातन से होता है । पश्च=पीछे, पश्चा=पीछे ।

(१) तुश्छन्दसि ५।३।५९—तृजन्तात्तृन्नन्ताच्च इष्ठन्नीयसुनौ स्तः । 'आसुति करिष्ठः' । 'दोहीयसी धेनुः' ।।

वेद में तृजन्त और तृन्नन्त शब्दों से इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्यय होते हैं । यथा—आसुतिं करिष्ठः । अयमेषु (कर्तृषु) अतिशयेन कर्ता करिष्ठः । कृ+तृच्= कर्तृ ('सार्वधातुकयोरार्धधातुकयोः' से गुण) कर्तृ+इष्ठन्, 'तुरिष्ठेमेयः सु (६।४।१५४) से तृ का लोप, तृ का लोप होने पर प्रत्ययलक्षणेन गुण की निवृत्ति नहीं होगी=करिष्ठः । दोहीयसी धेनुः—इयमनयोरतिशयेन दोग्ध्री दोहीयसी धेनुः । ✓दुह् + तृच्, लघूपधगुणः, 'दादेर्धातोर्घः'से ह् का घ्, झषस्तथोर्धोऽधः' से तृच् के त् को ध् 'झलां जश् झशि'से घ को जश् ग्—दोग्धृ । तब स्त्रियां ऋन्नेभ्यो ङीप्' से ङीप् होकर दोग्ध्री शब्द बना । अब 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशि-

ष्टस्यापि ग्रहणम्' इस परिभाषा के अनुसार स्त्रीलिङ्ग दोग्ध्री शब्द से भी ईयसुन् प्रत्यय हुआ—दोग्ध्री + ईयस् । 'भस्याढे तद्धिते' से पुंवद्भाव होने से ङीप् निवृत्त हो गया—दोग्धृ + ईयस् । 'तुरिष्ठेमेयःसु' सूत्र से तृ का लोप होने पर तदाश्रित घ् का भी विनाश हो गया उसके स्थान पर 'ह्' पुनः आ गया। किन्तु प्रत्ययलक्षणेन, लघूपध गुण पूर्ववत् बना रह गया—दोह् + ईयस्। ईयसुन् प्रत्यय, उकार के इत्संज्ञक होने से उगित् है अतएव स्त्रियाम् 'उगितश्च' से ङीप् होकर 'दोहीयसी' सिद्ध हुआ।

११५. प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल् छन्दसि ५।३।१११—इवार्थे। 'तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा' ॥

लोक में प्रकार के अर्थ में ही थाल् प्रत्यय होता है (जैसे सर्वथा इत्यादि) किन्तु वेद में इव (समान) के अर्थ में भी प्रत्न (प्राचीन), पूर्व विश्व (सब) इम शब्द से थाल् प्रत्यय होता है। प्रत्न + थाल् = प्रत्नथा (प्राचीन के समान) इसी प्रकार पूर्वथा (पूर्व के समान), विश्वथा (सबों के समान), इमथा (इसके समान) इम शब्द इदम् का ही समानार्थक किन्तु उससे भिन्न है।

११६. अमु च छन्दसि ५।४।१२—किमेत्तिङ-व्ययघादित्येव। 'प्र तं नय प्रतरम्' ॥

सूत्र है 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे (५।४।११)। इस सूत्र के अनुसार किम् शब्द के बाद, एकारान्त शब्द के बाद, तिङन्तक्रिया रूप के बाद अथवा अव्यय के बाद उत्कर्षद्योतक जो घ प्रत्यय (तरप् और तमप्) लगते हैं तदन्त से प्रकर्ष के अर्थ में आमु (आम्) प्रत्यय लगता है (जैसे—किंतराम्, पूर्वाह्णेतमाम्, पचतितराम्, उच्चैस्तमाम् इत्यादि)। किन्तु ऐसा गुण या क्रिया का प्रकर्ष दिखलाने के लिए ही किया जाता है, द्रव्य के प्रकर्ष में ऐसा नहीं करते। ऐसी स्थिति में लोक में जहाँ आमु (आम्) प्रत्यय लगता है वहाँ वेद में अमु (अम्) प्रत्यय का भी प्रयोग देखा जाता है। जैसे प्रतर + अम् = प्रतरम् ('यस्येति च' से रेफोत्तरवर्ती अकार का लोप)। यहाँ प्रकर्षार्थक 'प्र' से 'प्रकृष्टतर' की तरह प्रकर्ष के अर्थ में तरप् प्रत्यय हुआ, तदन्त प्रतर से अमु प्रत्यय है। गुण के प्रकर्ष का बोध हो रहा है। सूत्र में चकार का ग्रहण होने से आमु प्रत्यय भी होता है—प्रतराम् इत्यादि।

यहाँ अमु प्रत्यय में उकार, विशेष उद्देश्य से लगाया गया है। वह यह कि 'इच एकाचोऽम् प्रत्ययवच्च' (६।३।३८) में इस अम् (अमु) का ग्रहण न हो सके। उकार विशिष्ट न करने से (केवल अम् कहने से) इसका ग्रहण होने लगता और यह तद्धित प्रत्यय है, तब 'यस्येति च' सूत्र से 'स्त्रियं मन्यः, में 'स्त्री+अम्' इस स्थिति में ईकार का लोप होने लगता। उकार विशिष्ट कहने से उक्त सूत्र में इसका ग्रहण नहीं होता, वहाँ अम् विभक्ति का ही ग्रहण होता है और 'वाम्शसोः' (६।४।८०) से वैकल्पिक इयङ् आदेश होकर स्त्रियं मन्यः' स्त्रीं मन्यः दोनों बनता है।

११७. वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ च च्छन्दसि ५।४।४१——स्वार्थे। 'यो नो दुरेवो वृकतिः'। 'ज्येष्ठतातिं बर्हिषदम्'॥

वृक और ज्येष्ठ शब्द से वेद में तिल् और तातिल् प्रत्यय क्रमशः स्वार्थ में होते हैं अर्थात् प्रत्यय लगाने से इन शब्दों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। जैसे—यो नो दुरेवो वृकतिः (जो भेड़िया हमारे लिए दुर्गम है) यहाँ वृक शब्द से स्वार्थ में तिल् प्रत्यय होकर 'वृकतिः' शब्द बना है जिसका अर्थ (भेड़िया) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी प्रकार 'ज्येष्ठतातिं बर्हिषदम् (कुशपर बैठने वाले ज्येष्ठ को) ज्येष्ठ एव ज्येष्ठतातिः- तम्। ज्येष्ठ + तातिल् (ताति)==ज्येष्ठतातिः—ज्येष्ठतातिम्—(द्वितीया विभक्ति में)।

११८. अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि ५।४।१०३— तत्पुरुषात् टच् स्यात्समासान्तः। 'ब्रह्मसामं भवति'। 'देवच्छन्दसानि'।

अन् या अस् से अन्त होने वाले नपुंसक लिङ्ग के साथ तत्पुरुष समास बने और ये उत्तर पद के रूप में रहें तो वेद में इनसे समासान्त टच् प्रत्यय होता है। टच् में केवल 'अ' शेष रह जाता है। टकार की चुटू' सूत्र से और चकार की 'हलन्त्यम्' सूत्र से इत् संज्ञा हो जाती है। अन्नन्त का उदाहरण है—ब्रह्मणः साम इति ब्रह्म सामम्। षष्ठी तत्पुरुष होने पर प्रकृतसूत्र से टच्

प्रत्यय हुआ—ब्रह्मसामन्+अ। 'नस्तद्धिते' सूत्र से टिभाग (अन्) का लोप होने पर विभक्ति कार्य करने पर 'ब्रह्मसामम्' बना। असन्त का उदाहरण है— देवच्छन्दसानि। 'देवस्य छन्दांसि' इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास होने पर प्रकृत सूत्र से समासान्त टच् (अ) प्रत्यय हुआ—देवच्छन्दस—देवच्छन्दसानि (प्रथमा वहुवचन में)।

११९. बहुप्रजाश्छन्दसि ५।४।१२३—'बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश।'

१२०. छन्दसि च ५।४।१४२—दन्तस्य दतृशब्दः स्याद्बहुव्रीहौ। उभयतोदतः प्रतिगृह्णाति।

१२१. ऋतश्छन्दसि ५।४।१५८—ऋदन्ताद् बहुव्रीहेर्न कप्। हता माता यस्य हतमाता।

वेद में वहुप्रजाः शब्द निपातन से सिद्ध होता है। इसका आशय यह हुआ कि पूर्व में वह शब्द रहने पर भी प्रजा शब्द से वेद में असिच् प्रत्यय लग सकता है जब कि लोक में नञ् (अ), दुः या सु शब्द के पूर्व में रहने पर ही प्रजा शब्द से असिच् प्रत्यय होता है (नित्यमसिच् प्रजामेधयोः ५।४।१२२। यथा—वहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश (अधिक सन्तान वाला कष्ट में पड़ा)। 'वह्वयः प्रजा यस्य' इस विग्रह में वहुव्रीहि समास करने पर असिच् प्रत्यय हुआ—वहुप्रजा+अस्' 'यस्येति च' से 'आ' का लोप—वहुप्रजस्। इससे सु विभक्ति आने पर वहुप्रजस् + सु, 'अत्वसन्तस्य चाधातोः, सूत्र से उपधा का दीर्घ—वहुप्रजास् + सु, 'हल्ङ्याब्भ्यः—से सु का लोप, सकार का रुत्व विसर्ग वहुप्रजाः।

लोक में वहुव्रीहि समास में दन्त शब्द का दतृ आदेश होता है जव उस से पूर्व कोई संख्यावाचक शब्द या 'सु' शब्द रहता है और ऐसा तभी होता है जव उससे वयविशेष का ज्ञान हो किन्तु वेद में वहुव्रीहि समास में सामान्यतः दन्त के स्थान में दतृ आदेश होता है। (दतृ में ऋकार की उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा हो जाती है)। यथा—उभयतोदतः प्रतिगृह्णाति दोनों ओर दाँत वाले (यजमान) से वह दान लेता है। उभयतः दन्ता

यस्य स उभयतोदन्, तस्मात् उभयतोदतः (पञ्चम्यन्त)। वहुव्रीहि समास होने पर दन्त का दतृ (दत्) आदेश--उभयतोदत् + सु इस स्थिति में यहां ऋ की इत्संज्ञा होने से उगित् होने के कारण 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' से नुम् का आगम--उभयतोदन्त्+सु। 'हल्ङ्याब्भ्यः'--सु का लोप, त् का संयोगान्त लोप--उभयतोदन्। पञ्चमी में उभयतोदतः।

लोक में वहुव्रीहि समास का उत्तर पद नदीसंज्ञक या ऋकारान्त शब्द हो तो उससे निश्चित रूप से कप् होता है (नद्यृतश्च)। वेद में ऋदन्त वहुव्रीहि से कप् नहीं होता है। जैसे हता माता यस्य स हतमाता (जिसकी माता मर चुकी है)। यहाँ कप् न होने से इसका सामान्य रूप (मातृशब्द की तरह) ही चलेगा। लोक में 'हतमातृकः' होगा।

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥



षष्ठोऽध्यायः

(१) एकाचो द्वे प्रथमस्य ६।१।१—'छन्दसि वेति वक्तव्यम्' (वा०) यो जागार। दाति प्रियाणि।

१२२. तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य ६।१।७—तुजादिराकृतिगणः। प्रभरा तूतुजानः। सूर्यं मामहानम् दाधार यः पृथिवीम् स तूताव।

अष्टाध्यायी के छठें अध्याय के आरम्भ में द्वित्व का प्रकरण चला है। उन द्वित्वविधायक सूत्रों से लोक में निश्चित रूप से द्वित्व होता है किन्तु वेद में विकल्प से होता है। लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८) के अनुसार लिट् लकार में अनभ्यस्त धातुओं के एकाच् प्रथम अवयव का द्वित्व होता है। आदिभूत अच् से पर एकाच् द्वितीय अवयव ही का द्वित्व होता है (प्रथम का नहीं) किन्तु जागृ निद्राक्षये धातु के लिट् प्रथमपुरुषैकवचन में वेद में 'जागार' रूप देखा जाता है अर्थात् वेद में द्वित्व के वैकल्पिक होने से जागृ + लिट् (तिप् = णल्) में द्वित्व नहीं हुआ। णल् के णित् होने से 'अचोञ्णिति' सूत्र से ऋ को वृद्धि (रपर होते हुए) 'आर्' हुआ—जागार्+अ=जागार रूप वना। इसी प्रकार दा धातु जो जुहोत्यादि गण में होने से श्लु लेगा और 'श्लौ' से द्वित्व होना चाहिए किन्तु वेद में उस द्वित्व को भी वैकल्पिक कर देने से द्वित्व नहीं किया इस प्रकार √दा + लट् (तिप्)=दाति रूप वनता है। यहां यह अवधेय है कि वेद में तो 'वहुलं छन्दसि' (२।४।७६) के अनुसार श्लु ही वैकल्पिक है ऐसी स्थिति में वैकल्पिक द्वित्व का प्रश्न ही नहीं उठता, फिर प्रस्तुत वार्तिक का 'दाति' उदाहरण क्यों दिया गया? इसका समाधान यह है कि श्लु वैकल्पिक है, तो दाधातु से वह श्लु हो भी तो सकता है, तव तो 'श्लौ' सूत्र से द्वित्व अवश्य होगा जिसे प्रस्तुत वार्तिक रोकेगा। इस प्रकार प्रस्तुत वार्तिक का 'दाति' उदाहरण निर्बाध रूप से वन जाता है।

तुज् आदि धातुओं के अभ्यास को दीर्घ हो जाता है। तुजादि आकृति-गण है अर्थात् तुजादिगण में कौन-कौन धातु हैं, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। आकार देख कर समझें कि जिन्हों ने अभ्यास में दीर्घ लिया है वे तुजादि हैं।

तूतुजानः—√तुज् + लिट्, लिट् के स्थान में कानच् (आन) 'लिटः कानज्वा' (३।२।१०६)। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' से द्वित्व, तुज् + तुज् + आन, 'हलादिः शेषः' तुतुज् आन, अभ्यास को दीर्घ—तू तुजान। तूतुजान + सु (सु को रुत्वविसर्ग)=तूतुजानः'

मामहानम्—√मह + कानच्, द्वित्व, हलादिः शेषः--म + मह् + आन।

अभ्यास को दीर्घ--मामहानः। वेद में सभी विधानों के वैकल्पिक होने से 'ममहानः' भी।

दाधार--√धृ + लिट् (तिप् = णल्), 'धृ + अ' इस स्थिति में लिटि धातोरनभ्यासस्य' से द्वित्व - धृ धृ + अ 'उरत्' सूत्र से अभ्यास के ऋ को 'अ' तथा रपरत्व--धर् धृ + अ। 'हलादिःशेषः' से धधृ + अ। 'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास के ध् को द्—दधृ + अ। 'अचोञ्णिति' सूत्र से ऋ को वृद्धि रपर होकर 'आर्'—दधार। प्रकृत सूत्र से अभ्यास को दीर्घ--दाधार।

तूताव—√तु (सूत्र में ही प्रयुक्त, लोक में अप्रयुक्त धातु) + लिट् तिप् = णल्) द्वित्व, तु + तु + अ। 'अचोञ्णिति' से वृद्धि--तुतौ + अ। आव् आदेश (एचोऽयवायावः) तुताव, प्रकृत सूत्र से अभ्यास को दीर्घ—तूताव।

१२३. बहुलं छन्दसि ६।१।३४—ह्वः सम्प्रसारणं स्यात्। इन्द्रमाहुव ऊतये।

लोक में ह्वे (पुकारना) धातु का 'ह्वः सम्प्रसारणम्' (६।१।३२) से सम्प्रसारणकार्य होता है। उसी प्रसङ्ग में प्रकृत सूत्र कहा गया है, अतः इसका अर्थ हुआ कि वेद में बहुलरूप से 'ह्वे' का सम्प्रसारण होता है। यथा—इन्द्र-माहुव ऊतये (मैं रक्षा के लिए इन्द्र को बुलाता हूँ] आ + √ह्वे + इट् (लट्, उत्तमपुरुष. एकवचन)। 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से 'इ' को 'ए' प्रकृत सूत्र से सम्प्रसारण--आ ह् + उ + ए + ए। 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप (उ + ए = उ) आ हु ए।

'अचिश्नु धातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' (६।४।७७) से 'उ' को उवङ् आदेश आहुवे। यहाँ यह अवधेय है कि 'शप्' का लोप 'बहुलं छन्दसि' के अनुसार

हुआ है क्योंकि वेद में 'अदादि' से भिन्न प्रकरण में भी 'शप्' का लोप देखा जाता है। 'ह्वे' धातु आङ् पूर्वक, स्पर्धा अर्थ में ही आत्मनेपद होता है (स्पर्द्धायामाङः १।३।३१) फिर भी यहां स्पर्धा का अर्थ न होने पर भी आत्मनेपद हो गया है क्योंकि वेद में सभी नियम वैकल्पिक होते हैं। लोक में 'आहुवे' के स्थान पर 'आ ह्वयामि' होगा। स्पर्धा का अर्थ होने पर 'आह्वये' होगा।

(१) ऋचि त्रेरुत्तरपदादिलोपश्च छन्दसि (वा०)— ऋच्शब्दे परे त्रेः सम्प्रसारणमुत्तरपदादेर्लोपश्चेति वक्तव्यम्। तृचं सूक्तम्। छन्दसि किम्? त्र्यृचानि।

वेद में त्रि शब्द के बाद ऋच् शब्द हो तो 'त्रि' का सम्प्रसारण और उत्तर पद (ऋच्) के आदिवर्ण (ऋ) का लोप कहना चाहिए। यथा— तिस्रः ऋचो यस्मिंस्तत् तृचं सूक्तम्। बहुव्रीहि समास होने पर 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' से समासान्त 'अ' प्रत्यय, त्रि + ऋच् + अ। 'त्रि' को सम्प्रसारण त्+ऋ+इ, 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्व रूप (ऋ+इ=ऋ), उत्तर पद ऋच् के आदि वर्ण 'ऋ' का लोप—तृ च् अ=तृचम्। 'वेद में' ऐसा क्यों कहा क्योंकि वैदिक भाषा से इतर स्थानों में 'त्र्यृचानि' ऐसा रूप होगा।

(२) रयेर्मतौ बहुलम् (वा०)—रेवान्। रयिमान् पुष्टिवर्धनः।

रयि (धन) शब्द के बाद मतुप् प्रत्यय होने पर विकल्प से रयि के य् का सम्प्रसारण होता है। रयि + मतुप्, सम्प्रारण होने पर—र इ इ + मतुप्। 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप (इ+इ=इ) र इ + मतुप्। 'छन्दसीरः' (८।२।१५) से मतुप् के मकार को वकार। र+इ=रे, रेवत्। रेवत्+सु=रेवान्। बहुलग्रहण से सम्प्रसारण के अभाव पक्ष में रयिमान्।

१२४. चायः की ६।१।३५—न्य१ न्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्। लिटि उसि रूपम्। बहुलग्रहणानुवृत्तेर्नेह। अग्निं ज्योतिर्निचाय्य।

चाय् (चायृ पूजानिशमनयोः भ्वादिगणीयः) धातु का बहुलरूप से 'की' आदेश वेद में हो जाता है। यथा—न्य न्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम् (एक

की पूजा की, एक की नहीं) । चिक्युः = √चाय् + लिट् (झि = उस्) निचिक्युः = नि + √चाय् + लिट् (झि = उस्) चाय् धातु से लिट् प्रथमपुरुष एकवचन में झि' को 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः, से उस्—चाय् + उस् । प्रकृत सूत्र से चाय् को 'की' आदेश, द्वित्व, अभ्यासकार्य आदि—की + की + उस् । ह्रस्वः' सूत्र सं अभ्यास को ह्रस्व–कि + की + उस् । 'कुहोश्चुः' सूत्र से अभ्यास के क् को च्—चि + की + उस्, 'इको यणाचि' से ई को यण् (य्) = चिक्युः । यह नियम चूँकि बहुलरूप से होता है (सूत्र में 'बहुल' की अनुवृत्ति होती है) अतः 'अग्निज्योति निचाय्य' में प्रयुक्त 'निचाय्य' में चाय् को 'की' आदेश नहीं हुआ (अग्निरूप ज्योति की पूजा करके) नि + चाय् + क्त्वा (ल्यप्) = निचाय्य ।

१२९. अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषे तित्याज श्राताःश्रितमाशीराशीर्ताः ६।१।३६—एते छन्दसि निपात्यन्ते । इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम् । स्पर्धः लङि आथाम् । अर्कमानृचुः । वसून्यानृहुः । अर्चेरर्हेश्च लिटि उसि । चिच्युषे च्युङो लिटि थासि । यस्तित्याज । त्यजेर्णलि । श्रातास्त इन्द्र सोमाः । श्रिता नो ग्रहाः । श्रीञ् पाके निष्ठायाम् । आशिरं दुहे । मध्यत आशीर्तः । श्रीञ् एव क्विपि निष्ठायां च ।

वेद में अपस्पृधेथाम् आनृचुः, आनृहुः, चिच्युषे, तित्याज, श्रातः, श्रितम्, आशीः, आशीर्तः ये नव शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं ।

(१) इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम् । अपस्पृधेथाम्–√स्पर्ध + लङ् (आथाम्) शप् अट् का आगम, निपातन से धातु को द्वित्व—अ + स्पर्ध् + स्पर्ध् + अ + आथाम् । 'हलादिः शेषः' को बाधकर 'शर्पूर्वाः खयः' (७।४।६१) से खय् (प्) शेष रह गया—अ + पस्पर्ध + आथाम् । अब निपातन से स्पर्ध के र् को सम्प्रसारण तथा पकारोत्तर वर्ती अकार का लोप—अपस्पृध + आयाम् । 'आतो ङितः' सूत्र से आ को इय् 'लोपो व्योर्वलि' से य् का लोप' (अप

सम्बन्धी) अ+इ-ए—अपस्पृधेथाम् । इस प्रकार निपातन से धातु को द्वित्व, रेफ का सम्प्रसारण तथा पकारोत्तरवर्ती अकार का लोप ये तीन कार्य होते हैं। लोक में 'अस्पर्धेथाम्' होता है।

नागेश जी स्पर्ध् धातु के पूर्व 'अप' उपसर्ग लगाते हैं तथा 'बहुलं छन्दस्यमाङ् योगेऽपि' से अडागम का अभाव करके शेष प्रक्रिया पूर्ववत् कर 'अपस्पृधेथाम्' की सिद्धि करते हैं। उनके ढंग से निपातन से रेफ का सम्प्रसारण तथा अकार का लोप केवल दो कार्य होते हैं। लोक में 'अपास्पर्धेथाम्' होगा।

(२) अर्कमानृचुः (सूर्य की पूजा की)—आनृचुः√अर्च् + लिट् (झि=उस्) निपातन से रेफ का सम्प्रसारण तथा अकार का लोप—ऋच् + उस् । द्वित्व, हलादि शेषः—ऋ ऋच्+उस् । 'उरत्' सूत्र से अभ्यास ऋ को ह्रस्व अ तथा रपरत्व—अर् ऋच् + उस्) हलादिः शेषः अ ऋच् उस् । अत आदेः (७।४।७०) से 'अ, को दीर्घ—आ ऋच् उस् । 'तस्मान्नुड् द्विहलः' (७।४।७१) से नुट् का आगम—आ न् ऋच् उस्—आनृचुस्—स् का रुत्व-विसर्ग=आनृचुः । लोक में 'आनर्चुः' ।

(३) वसूनि आनृहुः (धन पाने की योग्यता रखते थे)—आनृहुः—√अर्ह् + लिट् (झि=उस्) निपातन से रेफ का सम्प्रसारण ऋ तथा अकार का लोप—ऋह् + उस् । द्वित्व, हलादिःशेषः—ऋ ऋह् + उस् । 'उरत्' से अभ्यास ऋ को रपर अ-अर् ऋह् + उस् । 'हलादिः शेषः'—अ + ऋह् + उस् । 'अत आदेः' से 'अ' को दीर्घ, 'तस्मान्नुड् द्विहलः' से नुट् का आगम—आनृहुस्—आनृहुः (स् कारुत्वविसर्ग) । लोक में 'आनर्हुः'

(४) चिच्युषे—√च्यु (च्युङ् गतौ भ्वादिगणीयः) + लिट् (थास्)। 'थासः से' से थास् को से, द्वित्वादिकार्य—च्यु च्यु से, सकार को षत्व (आदेश प्रत्यययोः)—च्यु च्यु षे। निपातन से अभ्यास को सम्प्रसारण च् इ उ च्युषे। 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप (इ + उ = इ)—चिच्युषे। निपातन से इट् का अभाव । लोक में 'चुच्युविषे' ।

(५) यस्तित्याज (जिसने छोड़ा)—√त्यज् + लिट् (तिप्=णल्) द्वित्व, अभ्यासकार्य–त्य त्यज् + अ । निपातन से अभ्यासावयव य् का सम्प्रसारण 'इ' और 'सम्प्रसारणाच्च' से (इ+अ=इ) पूर्वरूप—ति त्यज् अ । णित्त्वात् 'अत उपधायाः सूत्र से त्यज् की उपधा अ' को वृद्धि 'आ'—तित्याज । लोक में 'तत्याज' ।

(६) श्रातास्त इन्द्र सोमाः (हे इन्द्र, तुम्हारे लिए सोम तैयार है)। श्रीञ् पाके धातु से क्त, निपातन से 'श्री' को 'श्रा' आदेश श्रा त-श्राताः (प्र० ब० व०)।

(७) श्रिता नो ग्रहाः—√श्री+क्त निपातन से ह्रस्व–श्रित–श्रिताः (प्र० व० व०)।

(८) आशिरम्–आङ्पूर्वक√श्री + क्विप्, निपातन से श्री का शिर् आदेश–आशिर् प्रथमा एक वचन में आशीः। द्वितीया एकवचन में आशिरम्। सूत्र में दीर्घ ई से युक्त 'आशीर्' ऐसा निर्देश युक्त ही है। प्रातिपादिक में आशीर् होता है सु लगने पर भी आशीः। अन्य स्थानों में ह्रस्व ही होता है।

(९) मध्यतः आशीर्तः–आ + √श्री + क्त, निपातन से श्री का शिर् आ शिर् त, रदाभ्यां निष्ठा तो नः पूर्वस्य च दः' सूत्र से तकार को प्राप्त नत्व निपातन से नहीं हुआ। 'र्हलि च' (८।२।७७) से उपधा 'इ' को दीर्घ— आशीर्तः।

१२६. खिदेश्छन्दसि ६।१।५२—खिद दैन्ये। अस्यैच आद् वा स्यात्। चिखाद। चिखेदेत्यर्थः।

वेद में खिद् धातु के एच् (ए) के स्थान में आकार का आदेश विकल्प से होता है। √खिद्+लिट्, व्यत्यय से परस्मैपद–खिद् + तिप् (णल्) द्वित्व अभ्यास कार्य, 'कुहोश्चुः' से ख् को छ्, 'अभ्यासे चर्च' से छ् को च् चिखिद्+अ। 'पुगन्तलघूपधस्य च' से उपधा 'इ' को गुण (ए)—चिखेद। प्रकृत सूत्र से 'ए' को आ–चिखाद, पक्षान्तर में चिखेद। लोक में चिखिदे।

१२७. शीर्षंश्छन्दसि ६।१।६०–शिरःशब्दस्य शीर्षन् स्यात्। शीर्ष्णः शीर्ष्णो जगतः।

वेद में 'शिरस्' शब्द के स्थान में 'शीर्षन्' आदेश होता। शिरस् + ङस् (षष्ठी एकवचन) शीर्षन् आदेश होकर शीर्षन्+अस्। 'अल्लोपोऽनः' से अन् के 'अ' का लोप—शीर्ष् न् अस्। 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' से न् का णत्व स् का रुत्व विसर्ग–शीर्ष्णः। 'पूर्वस्मादपि विधौ स्थानिवद्भावः' इसके अनुसार अल्लोप के स्थानिवद्भाव में 'अट्कुप्वाङ्नुम् व्यवायेऽपि' सूत्र के

अनुसार अकार का व्यवधान होने पर भी न् का णत्व होगा। नागेश जी का कथन है कि वेद में सभी विधियाँ वैकल्पिक हैं अतः वेद में 'शिरस्' शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है।

१२८. वा छन्दसि ६।१।१०६—दीर्घाज्जसि इचि च पूर्वसवर्णदीर्घो वा स्यात्। वाराही–वाराह्यौ। मानुषीरीळते विशः। उत्तरसूत्रद्वयेऽपीदं वाक्यभेदेन सम्बद्ध्यते। तेनामि पूर्वत्वं वा स्यात्। शमीं च। सूर्म्यं सुषिरामिव।

सूत्र है 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (६।१।१०२) इसके अनुसार अक् (अ० इ० उ० ऋ० ऌ) के बाद प्रथमा या द्वितीया विभक्ति का अच् होने पर उन दोनों के स्थान पर पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होता है। जैसे हरि + औ' में अक् (इ) के बाद प्रथमा विभक्ति का अच् (औ) है अतः इ+औ=ई (पूर्वसवर्णदीर्घ) हो गया—हरी। इसका अपवाद सूत्र है—दीर्घाज्जसि च (६।१।१०५) दीर्घ (अक्) से परे जस् अथवा इच् (इ, उ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ) परे हो तो पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं होता है जैसे 'गौरी+औ' में तथा गौरी+अस् (जस्) में दीर्घ अक् (ई) के वाद इच् (औ) जस् होने से पूर्वसवर्ण दीर्घ (ई+औ=ई) (ई+अ=ई) नहीं हुआ।

इसी 'दीर्घाज्जसि च' सूत्र के प्रकरण में प्रकृत सूत्र 'वा छन्दसि' आया है और इसके अनुसार वेद में दीर्घ (अक्) के वाद जस् या इच् के रहने पर दोनों के स्थान में विकल्प से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होता है। यथा—'वाराही +औ में दीर्घ (ई) के वाद इच् (औ) है अतः दोनों (ई+औ) के स्थान में विकल्प से पूर्वसवर्ण दीर्घ (ई) एकादेश हो गया वना–वाराही। जहाँ यह नहीं हुआ वहाँ वाराही+औ=वाराह्यौ (यण्)। लोक में केवल 'वाराह्यौ'।

मानुषीरीळते विशः (मनु से उत्पन्न प्रजा उसकी पूजा करती है)। मानुषी+जस् (अस्) विकल्प से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश (ई+अ=ई) होने पर मानुषीस्–स् का रुत्वविसर्ग मानुषीः। पक्ष में 'मानुष्यः' भी होगा। लोक में केवल 'मानुष्यः' (दीर्घाज्जसि च' से पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध होने से यण्)।

यह 'वा छन्दसि' सूत्र बाद के दो सूत्रों 'अमिपूर्वः' (६।१।१०७) तथा 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०८) में भी वाक्यभेद से सम्बद्ध होता है अतः इन सूत्रों से होने वाले पूर्वरूप एकादेश कार्य को भी वैकल्पिक कर देता है। लोक में 'अमिपूर्वः' सूत्र से अक् के बाद अम् के अच् के होने पर दोनों के स्थान में जो पूर्वरूप एकादेश (नित्य) होता है वह वेद में विकल्प से होता है। यथा शमी + अम्=शमीम् (पूर्वरूप एकादेश हुआ)। पूर्वरूप के अभाव पक्ष में यण्–शम्यम्। सूर्मि + अम् पूर्वरूप के अभाव पक्ष में यण्–सूर्म्यम् (सुन्दर तरङ्ग को)।

(१) सम्प्रसारणाच्च ६।१।१०८ – इति पूर्वरूपमपि वा। इज्यमानः—यज्यमानः।

सम्प्रसारण होने पर उससे पर में यदि कोई स्वर हो तो दोनों के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है किन्तु वेद में 'वा छन्दसि' इसे भी वैकल्पिक कर देता है। यज् + यक् + शानच्, 'आनेमुक्' से मुक् का आगम–यज्यमानः। अब 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) से य् का सम्प्रसारण 'इ' हुआ–इ अज्यमानः। इ + अ का पूर्वरूप एकादेश (इ) होने पर इज्यमानः। किन्तु पूर्वरूप के अभाव पक्ष में 'इ अज्यमानः' इस स्थिति में 'इ' को यण् (य्) होकर यज्यमानः बना।

१२९. शेश्छन्दसि बहुलम् ६।१।७०—लोपः स्यात्। या ते गात्राणाम्। ता ता पिण्डानाम्।

नपुंसकलिङ्ग में जश् और शस् विभक्ति को 'शि' आदेश होता है (जश्शसोः शिः) यह 'शि' सर्वनामस्थान कहलाता है (शि सर्वनामस्थानम्)। शि होने पर 'नपुंसकस्य झलचः' (७।१।७२) से नुम् का आगम होता है। वेद में इस 'शि' का बहुलरूप से लोप हो जाता है। यह अवधेय है कि 'शि' का लोप हो जाने पर भी वे सभी कार्य जो 'शि' की उपस्थिति में होते, होंगे ही (प्रत्यय-लोपे प्रत्ययलक्षणम्)। यथा—या (=यानि) ता ता (=तानि तानि) यत् शब्द से नपुंसकलिङ्ग में जश् को शि। प्रकृत सूत्र से 'शि' का लोप होने पर भी 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' के अनुसार 'त्यदादीनामः' से अकार अन्तादेश–य + अ' 'अतो गुणे' से पररूप—य। नपुंसकस्य झलचः' से नुम् का आगम–य् ।

'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से उपधा 'अ' को दीर्घ—यान्। 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप—या। शस् विभक्ति होने पर भी इसी प्रकार 'या' बनेगा। तद्+जस् या शस्=ता (प्रक्रिया पूर्ववत्)। लोक में यत् से यानि, तद् से तानि होता है।

(१) एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वाच्यम् (वा०)— अपां त्वेमन्। अपां त्वोद्मन्।

वेद में अवर्णान्त पद से एमन् आदि शब्दों के पर में रहने पर, पूर्व और पर दोनों के स्थान में पररूप एकादेश होता है। यथा—'त्वा+एमन्' यहाँ सामान्यतः 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि प्राप्त थी उसे प्रकृत वार्तिक रोक कर आ+ए दोनों के स्थान पर पररूप (ए) एकादेश कर देता है—त्वेमन्। वृद्धि होने पर 'त्वैमन्' होता। इसी प्रकार त्वा+ओद्मन्=त्वोद्मन् (आ+ओ=ओ पररूप)। वृद्धि होने पर 'त्वौद्मन्' होता।

१३०. भय्यप्रवय्ये च छन्दसि ६।१।८३—बिभेत्यस्मादिति भय्यः। वेतेः प्रवय्या इति स्त्रियामेव निपातनम्। प्रवेयमित्यन्यत्र। छन्दसि किम्? भेयम्। प्रवेयम्।

वेद में भय्य और प्रवय्य इन शब्दों की सिद्धि निपातन से होती है। बिभेत्यस्मादिति भय्यः (जिससे लोग डरें)। भी धातु से अपादान में 'कृत्यल्युटो बहुलम्' से यत् प्रत्यय—भी+य। अब निपातन से ई का अय् आदेश—भय्यः। प्र+√वी+यत्, निपातन से अय् आदेश, यह निपातन दीक्षित जी स्त्रीलिङ्ग में ही मानते हैं अतः प्रवय्य+टाप्=प्रवय्या। वेद से अन्यत्र 'अचो यत्' सूत्र से यत् प्रत्यय और सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्र से ई को गुण ए होकर 'भेयम्' और 'प्रवेयम्' होगा।

(१) ह्रदय्या उपसंख्यानम् (वा०)—ह्रदे भवा ह्रदय्याः आपः। भवे छन्दसि यत्।

वेद में ह्रदय्या शब्द की भी सिद्धि निपातन से होती है। 'ह्रदे भवाः' इस विग्रह में 'भवे छन्दसि' से यत् होकर निपातन से अय् आदेश—ह्रदय्य। उससे स्त्रीलिङ्ग में टाप्—ह्रदय्या। बहुवचन में ह्रदय्याः (आपः)।

१३१. प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे ६।१।११५—ऋक्पाद-मध्यस्थ एङ् प्रकृत्या स्यादति परे, न तु वकारयकारपरेऽति । उपप्रयन्तो अध्वरम् । सुजाते अश्वसूनृते । अन्तःपादं किम् ? एतास एतेऽर्चन्ति । अव्यपरे किम् ? तेऽवदन् । तेऽयजन् ।

लोक में पदान्त में एङ् (ए अथवा ओ) हो और उसके वाद ह्रस्व अ हो तो दोनों पूर्व-पर (ए + अ अथवा ओ + अ) के स्थान में पूर्वरूप (ए अथवा ओ) एकादेश हो जाता है, यथा—हरे + अव = हरेऽव । विष्णो + अव=विष्णोऽव (एङः पदान्तादति) । किन्तु ऋग्वेद के पाद (चरण) के बीच में यदि ऐसी स्थिति हो—पदान्त एङ् के वाद ह्रस्व अ हो तो प्रकृति भाव होता है—दोनों वर्ण यथापूर्व रह जाते हैं, उनमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता है । यह अवधेय है कि ऐसा तभी होता है जब ह्रस्व अकार के बाद व् या य् न लगा हो । अर्थात् अव् अथवा अय् रहने पर प्रकृतिभाव न होकर पूर्वरूप ही होगा ।

उदाहरण—(१) 'उपप्रयन्तो + अध्वरम्' में एङ् (ओ) पाद के मध्य में है उससे परे अध्वरम् का ह्रस्व अ है, ऐसी स्थिति में प्रकृतिभाव हो गया, 'एङः पदान्तादति' के अनुसार प्राप्त पूर्वरूप सन्धि नहीं हुई—उपप्रयन्तो अध्वरम् । इसी प्रकार (२) 'सुजाते + अश्वसूनृते' में भी प्रकृति भाव हो गया, पूर्वरूप नहीं हुआ ।

पाद के मध्य में (अन्तःपादम्) ऐसा क्यों कहा ? इसलिए कि पाद के आदि में यदि ऐसी स्थिति हो तव पूर्वरूप सन्धि ही हो जाय; जैसे—

'एतास एते + अर्चन्ति' में 'एतास एते' यह प्रथम चरण का अन्त है और 'अर्चन्ति' द्वितीय चरण का आदि शब्द है अतः प्रकृतिभाव न होकर 'ए + अ' के स्थान पर पूर्वरूप (ए) एकादेश हो गया—एतास एतेऽर्चन्ति ।

अव्यपरे किम् ? अर्थात् ह्रस्व अ के बाद व् अथवा य् न रहने पर ही प्रकृति-भाव हो ऐसा क्यों कहा ? इस लिए कि ह्रस्व अ के वाद व् अथवा य् रहने पर पूर्वरूप सन्धि ही हो, जैसे ते + अवदन् = तेऽवदन् । ते + अयजन् = तेऽयजन् ।

१३२. अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च

६।१।११६–एषु व्यपरेऽप्यति एङ् प्रकृत्या। वसुभिर्नो अव्यात्। मित्रमहो अवद्यात्। मा शिवासो अवक्रमुः। ते नो अव्रत। शतधारो अयं मणिः। ते नो अवन्तु। कुशिकासो अवस्यवः। यद्यपि बह्वृचैः—ते नोऽवन्तु रथतूः, सोऽयमागात्, तेऽरुणेभिरित्यादौ प्रकृतिभावो न क्रियते, तथापि बाहुलकात् समाधेयम्। प्रातिशाख्ये तु वाचनिक एवाऽयमर्थः।

पूर्वसूत्र में 'अव्यपरे' पद से यह निर्देश किया गया है कि ह्रस्व अ के वाद व् अथवा य् रहे तो एङ् को प्रकृतिभाव न हो किन्तु प्रकृत सूत्र के अनुसार अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमुः, अव्रत, अयम्, अवन्तु, अवस्यु इन शब्दों के पर में रहने पर भी एङ् का प्रकृतिभाव होता है यद्यपि इन शब्दों में 'अ' के वाद व् अथवा य् विद्यमान है। अतः प्रकृत सूत्र पूर्व सूत्र का अपवाद है।

उदाहरण—वसुभिर्नो अव्यात् (प्रकृतिभाव)। अव्यात्—√अव् रक्षणे + आशीर्लिङ्। मित्रमहो अवद्यात् (प्रकृतिभाव)। अवद्यात्—अवद्य शब्द का पञ्चम्येकवचनान्त (पाप से)। मा शिवासो अवक्रमुः (प्रकृतिभाव) अवक्रमुः—अव + √क्रम् × लिटि (उस्) 'छन्दसि वा वचनम्' इति द्विर्वचनाभावः। ते नो अव्रत (प्रकृतिभाव)। अव्रत—√वृङ् अथवा वृञ् + लुङ् (झ) 'मन्त्रे घस० (२।४।८०) च्लि का लुक्, अडागम, 'आत्मनेपदेष्वनतः' (७।१।५) से झ का अत। शतधारो + अयं मणिः (प्रकृतिभाव) ते नो + अवन्तु (प्रकृतिभाव) वे हमारी रक्षा करें। अवन्तु—√अव रक्षणे + लोट् (झि)। कुशिकासो + अवस्यवः (प्रकृतिभाव) कुशिक के पुत्र रक्षा के इच्छुक हैं। अवस्यवः—√अव रक्षणे + औणादिक असुन् + क्यच् + उ=अवस्युः। वहुवचन में अवस्यवः।

ऋग्वेद की एक शाखा वह्वृचों की है वे लोग 'ते नोऽवन्तु'—सोऽयमागात्' तेऽरुणेभिः इत्यादि में पूर्वरूप करते हैं, प्रकृतिभाव नहीं करते, फिर भी उनका समाधान बाहुलक से किया जा सकता है। वेद में जब सारे ही नियम वैकल्पिक हैं तब प्रकृतिभाव का होना और न होना दोनों सिद्ध और शुद्ध है किन्तु प्रातिशाख्य (वैदिक व्याकरण का ग्रन्थ) में प्रकृतिभाव का विधान स्पष्टरूप से कहा गया है।

१३३. यजुष्युरः ६।१।११७–उरःशब्द एङन्तोऽतिप्रकृत्या यजुषि। उरो अन्तरिक्षम्। यजुषि पादाभावादनन्तः पादार्थं वचनम्।

यजुर्वेद में एङन्त उरस् शब्द (अर्थात् 'उरो') ह्रस्व अकार के पर रहने पर प्रकृतिभाव को प्राप्त होता है। यथा—उरो + अन्तरिक्षम् (प्रकृतिभाव) यह अवधेय है कि 'प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे' से यहां प्रकृतिभाव की सिद्धि हो सकती थी फिर भी इस सूत्र को पृथक् से देने का यह प्रयोजन है कि वह 'प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे' सूत्र ऋग्वेद के लिए है क्योंकि वहां पाद होते हैं। यजुर्वेद में सर्वत्र पाद नहीं हैं, वह तो अधिकांश गद्य में है अतः पाद के मध्य में न होने पर भी प्रकृतिभाव की सिद्धि इस सूत्र से हो जाती है।

१३४. आपो जुषाणो वृष्णो वर्षिष्ठेऽम्बेऽम्बालेऽम्बिके पूर्वे ६।१।११८—यजुषि अति प्रकृत्या। आपो अस्मान्मातरः (शुन्धयन्तु)। जुषाणो अग्निराज्यस्य। वृष्णो अंशुभ्याम्। वर्षिष्ठे अधि नाके। अम्बे अम्बाले अम्बिके। अस्मादेव वचनात् 'अम्बार्थ—' (७।३।१०७) इति ह्रस्वो न।

यजुर्वेद में एङन्त (एकारान्त अथवा ओकारान्त) आपो (अप् शब्द का प्रथमा वहुवचनान्त), जुषाणो (जुष् का शानजन्तरूप), वृष्णो (वृषन् का षष्ठ्यन्त रूप), वर्षिष्ठे (वर्षिष्ठ का सप्तम्येकवचनान्तरूप) तथा सम्बुद्ध्यन्त) अम्बिके शब्द से पूर्व अम्बे, अम्बाले (सम्बुद्ध्यन्तरूप) प्रकृति भाव को प्राप्त होते हैं, ह्रस्व अकार के परे रहने पर। यथा—आपो+अस्मान्=आपो अस्मान् (प्रकृति भाव) इसी प्रकार जुषाणो+अग्निः (प्रकृतिभाव), वृष्णो अंशुभ्याम् (प्रकृतिभाव) वर्षिष्ठे+अधि (प्रकृतिभाव) अम्बे+अम्बाले (प्रकृतिभाव) अम्बाले+अम्बिके (प्रकृतिभाव)। यह अवधेय है कि इसी सूत्र में अम्बे, ऐसा सम्बुद्ध्यन्त रूप प्रयुक्त होने से 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' के अनुसार ह्रस्व नहीं हुआ है। यद्यपि 'जगदम्ब विचित्रमत्र किम्' इत्यादि स्थलों में 'अम्ब' सम्बुद्ध्यन्त प्रयोग देखा जाता है।

१३५. अङ्ग इत्यादौ च ६।१।११९—अङ्गशब्दे य एङ् तदादौ च अकारे य एङ् पूर्वः सोऽति प्रकृत्या यजुषि। प्राणो अङ्गे अङ्गे अदीव्यत् ।

अङ्ग शब्द में जो एङ् है (अर्थात् अङ्गशब्द में अन्तिमवर्ण के रूप जो एङ् है) तथा अङ्ग शब्द के प्रथम वर्ण अकार के पूर्व में जो एङ् है, ये दोनों प्रकार के एङ् का प्रकृतिभाव होता है, पर में ह्रस्व अकार यदि रहता है तो। यथा—प्राणो + अङ्गे—प्रकृतिभाव। अङ्गे + अङ्गे—प्रकृतिभाव। अङ्गे + अदीव्यत्—प्रकृतिभाव।

१३६. अनुदात्ते च कुधपरे ६।१।१२०—कवर्गधकारपरेऽनुदात्तेऽति परे एङ् प्रकृत्या यजुषि। अयं सो अग्निः। अयं सो अध्वरः। अनुदात्ते किम्? अथोऽग्रे रुद्रे। अग्रशब्द आद्युदात्तः। कुधपरे किम्? सोऽयमग्निमतः।

यजुर्वेद में यदि पूर्व में एङ् (ए या ओ) हो और पर में ऐसा ह्रस्व अकार हो जो अनुदात्त हो और उसके बाद कवर्ग या ध् वर्ण हो तो वह एङ् प्रकृतिभाव को प्राप्त होता है। जैसे 'सो + अग्निः' में ओ (एङ्) पूर्व में है और पर में ह्रस्व अ अनुदात्त है तथा उसके बाद कवर्ग का ग् वर्ण है अतः एङ् (ओ) प्रकृतिभाव को प्राप्त हो गया—सो अग्निः। इसी प्रकार सो + अध्वरः में प्रकृतिभाव हुआ है। यहाँ ह्रस्व अ के बाद ध् आया है।

अनुदात्ते किम्? अर्थात् ह्रस्व अ अनुदात्त रहे ऐसा क्यों कहा? इस लिए कि अनुदात्त न रहने पर सन्धि हो जाय, जैसे—'अथो + अग्रे' यहाँ पूर्व में एङ् (ओ) है तथा पर में ह्रस्व अ है जिसके बाद कवर्ग का वर्ण ग् है किन्तु यह 'अ' अनुदात्त नहीं, उदात्त है अतः प्रकृतिभाव न होकर 'एङः पदान्तादति' सूत्र से पूर्वरूपसन्धि हो गयी—अथोऽग्रे।

कुधपरे किम्? अर्थात् ह्रस्व अ के बाद कवर्ग या ध् रहे ऐसा क्यों कहा? इस लिए कि ह्रस्व अ के बाद कवर्ग या ध् न हो तो सन्धि हो जाय यथा—'सो + अयम् अग्निमतः' यहाँ पूर्व में एङ् (सो का ओ) है, पर में ह्रस्व

अकार है किन्तु उसके बाद न कवर्ग है अथवा न घकार है, बल्कि यकार है अतः प्रकृतिभाव न होकर पूर्वरूप सन्धि हो गयी——सोऽयमग्निमतः।

१३७. अवपथासि च ६।१।१२१–अनुदात्तेऽकारादौ अवपथाः शब्दे यजुषि एङ् प्रकृत्या। त्री रुद्रेभ्यो अवपथाः। वपेः थासि लङि 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) इत्यनुदात्तत्वम्। अनुदात्ते किम्? यद्रुद्रेभ्योऽवपथाः। 'निपातैर्यद्यदि०' (८।१।३०)—इति निघातो न।

यजुर्वेद में एङ् के बाद 'अवपथाः' (√वप् + लङ्, मध्यमपुरुष एकवचन) हो और उसके आदि का ह्रस्व अकार अनुदात्त हो तो प्रकृतिभाव होता है। यथा——'त्री रुद्रेभ्यो अवपथाः' यहाँ 'अवपथाः' का 'अ' ही नहीं बल्कि पूरा 'अवपथाः' तिङन्त पद अनुदात्त है क्योंकि तिङन्त से भिन्न अन्य पद त्रिः तथा रुद्रेभ्यः के बाद 'अवपथाः' तिङन्त पद आया हैं 'तिङ्ङतिङः——अतिङन्तात्पदात्परं तिङन्तं निहन्यते = सर्वानुदात्तं क्रियते) अतः त्रीरुद्रेभ्यो + अवपथाः' में प्रकृतिभाव हो गया।

अनुदात्ते किम्? अर्थात् 'अवपथाः' का अनुदात्त होना क्यों आवश्यक कहा गया है? इस लिए कि यदि किसी स्थिति में 'अवपथाः' का अकार उदात्त हो गया तो सन्धि ही होगी। जैसे——'यद्रुद्रेभ्योऽवपथाः' यहाँ 'यद्' निपात के साथ 'अवपथाः' है अतः अकार 'निपातैर्यद्यदि हन्तकुविन्नेच्चेच्चण् कच्चिद्यत्रयुक्तम्' (८।१।३०) के अनुसार उदात्त ही रहता है——निघात (उदात्तस्वर का अनुदात्त में परिवर्तन) नहीं होता अतः प्रकृतिभाव न होकर पूर्वरूप सन्धि हो गयी——यद्रुद्रेभ्योऽवपथाः।

१३८. आङोऽनुनासिकश्छन्दसि ६।१।१२६— आङोऽचि परेऽनुनासिकः स्यात् स च प्रकृत्या। अभ्र आँ अपः। गभीर आँ उग्रपुत्रे।

वेद में आङ् के बाद अच् (स्वर) हो तो उस आङ् को अनुनासिक होता है तथा प्रकृतिभाव भी होता है। यह अवधेय है कि यहां आङ् में ङ् की इत्संज्ञा

होकर केवल 'आ' वचता है इसे ङित् 'आ' कहते हैं तथा एक ङकाररहित शुद्ध 'आ' उपसर्ग होता है उसे अङित् कहते हैं। कहाँ 'आ' ङित् है और कहाँ अङित् है इसे जानने के लिए कारिका है—

'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौच यः।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥'

सूत्र का उदाहरण—अभ्र आ + अपः=अभ्र आँ अपः। गभीर आ + उग्रपुत्रे= गभीर आँ उग्र पुत्रे। (अभ्र आ=अभ्रे + आ; गभीर आ=गभीरे + आ-ऐसा विच्छेद समझना चाहिए)।

(१) ईषा अक्षादीनां छन्दसि प्रकृतिभावो वक्तव्यः (वा०)–ईषा अक्षो हिरण्ययः। ज्या इयम्। पूषा अविष्टु।

वेद में 'ईषा अक्षः' इत्यादि कुछ पद ऐसे देखे जाते हैं जिनमें सन्धि नहीं हुई है, वहाँ प्रकृतिभाव कहना चाहिए। जैसे—ईषा + अक्षः=ईषा अक्षः 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश नहीं हुआ है, प्रकृतिभाव हुआ है। इसी प्रकार 'ज्या इयम्' में गुणसन्धि नहीं हुई तथा 'पूषा अविष्टु' में दीर्घसन्धि नहीं हुई।

१३९. स्यश्छन्दसि बहुलम् ६।१।१३३–स्य इत्यस्य सोर्लोपः स्याद् हलि। एष स्य भानुः।

वेद में 'तत्' सर्वनाम शब्द की तरह एक 'त्यत्' सर्वनाम शब्द भी चलता है जो 'तत्' शब्द का ही समानार्थक है और 'तत्' शब्द के रूपों की ही भाँति उसके भी रूपों की सिद्धि होती है। तत् शब्द के प्रथमा एक वचन में 'सः' होता है। व्यञ्जन पर में रहने पर इसके 'सु' का लोप हो जाता है (एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ् समासे हलि)। त्यत् शब्द के प्रथमा एकवचन में 'स्यः' होता है। इसके 'सु' का भी वेद में लोप हो जाता है यदि पर में व्यञ्जन हो, किन्तु यह सुलोप वहुलरूप से होता है—कहीं होता है, कहीं नहीं। उदाहरण—एष + सु + स्य + सु + भानुः=एष स्य भानुः। एतद् से परे सु का लोप–'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि' से हुआ है और त्यद् से परे सु का लोप 'स्यश्छन्दसि वहुलम्' से हुआ है।

१४०. ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे ६।१।१५१–ह्रस्वा-

त्परस्य चन्द्रशब्दस्योत्तरपदस्य सुडागमः स्यान्मन्त्रे। हरिश्चन्द्रो मरुद्गणः। सुश्चन्द्र दस्म।

ह्रस्वान्त शब्द के बाद उत्तरपद में यदि चन्द्र शब्द हो तो उस चन्द्र शब्द के सुट् का आगम होता है, मन्त्र में। सुट् में टकार की इत्संज्ञा 'हलन्त्यम्' सूत्र से होती है अतः 'टित्' है, उकार की इत्संज्ञा 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से होती है। टित् होने से सुट् का आगम 'आद्यन्तौ टकितौ' के अनुसार चन्द्र शब्द के आदि में स्थान लेगा। यथा—हरि + चन्द्रः = हरिस् चन्द्रः— हरिश्चन्द्रः ('स्तोः श्चुनाश्चुः' से स् को श्) । सु + चन्द्रः = सुस् चन्द्रः— सुश्चन्द्रः।

१४१. पितरामातरा च छन्दसि ६।३।३३—द्वन्द्वे निपातः। आ मा गन्तां पितरामातरा च। चात् विपरीतमपि। न मातरापितरा नू चिदिष्टौ।

वेद में 'पितरामातरा' ऐसा द्वन्द्वसमास' में निपातन से सिद्ध होता है। इस सूत्र से पूर्व 'मातरपितरावुदीचाम् (६।३।३२) सूत्र है जिसके अनुसार 'मातरपितरौ' ऐसा सिद्ध होता है, अतः प्रकृत सूत्र में 'च' के प्रयोग-बल से 'पितरामातरा' के साथ इसका विपरीत 'मातरापितरा' रूप भी आक्षिप्त होता है।

उदाहरण—पिता च माता च = पितरामातरा। पूर्वपद 'पितृ' को निपातन से अराङ् आदेश जो ङित् होने से अन्तिम वर्ण ऋ के ही स्थान में हुआ—पितरामातृ + औ इस स्थिति में 'ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः' से मातृ के ऋ को गुण (अर्) तथा 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः'। (७।१।३९) से 'औ' विभक्ति को 'आ', पितरामातरा। इसी प्रकार मातरापितरा।

(१) समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु ६।३।८४— समानस्य सः स्यान्मूर्धादिभिन्ने उत्तरपदे। सगर्भ्यः।

वेद में समास के अन्तर्गत समान' शब्द का 'स' आदेश होता है यदि उत्तरपद में मूर्धन्; प्रभृति अथवा उदर्क शब्द को छोड़कर कोई अन्य पद हो।

जैसे—समानः गर्भः सगर्भः (कर्मधारय)—समान शब्द का प्रकृत सूत्र से 'स' आदेश अब 'सगर्भे भवः' इस विग्रह में 'सगर्भसयूथसनुताद्यन् (४।४।११४) से यन् प्रत्यय–सगर्भ + य, 'यस्येति च' से अकार का लोप—सगर्भ्यः। अमूर्धे-त्यादि किम् ? समानमूर्धा, समानप्रभृतयः समानोदर्काः।

(२) छन्दसि स्त्रियां बहुलम् (वा०)—विष्वग्देव-योरद्र्यादेशः (६।३।९२)। विश्वाची च घृताची च। देवद्रीचीं नयत देवयन्तः। कद्रीची।

लोक में 'विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये' (६।३।९२) के अनुसार विष्वक्, देव तथा सर्वनाम शब्दों के 'टि' भाग (अन्तिम अच् से आरम्भ होने वाला वर्ण समूह) को 'अद्रि' आदेश होता है यदि उत्तर पद में अप्रत्ययान्त अञ्च धातु हो। अप्रत्ययान्त का अभिप्राय है जिस अञ्च् धातु से क्विन् या क्विप् प्रत्यय होने के बाद सर्वापहारी लोप होने से वह प्रत्यय विद्यमान नहीं रहता श्रूयमाण नहीं होता। जैसे विष्वक् + √अञ्च् + क्विप्, 'विष्वक्' के 'टि' भाग अक् को अद्रि आदेश होने पर विष्वद्र्यङ्, इसी प्रकार देवद्र्यङ्। स्त्रीलिङ्ग में देवद्रीची। वेद में यह अद्रि आदेश स्त्रीलिंग में बहुलरूप से होता है, कहीं होता है तो कहीं नहीं होता। यथा—विश्वाची। विश्वमञ्चति इति—विश्व + अञ्च + क्विन् (क्विन् का सर्वापहारी लोप)—विश्व + अञ्च, अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (६।४।२४) से 'अञ्च' में उपधा नकार का लोप विश्व + अच्, 'उगितश्च' से ङीप्, 'अचः' सूत्र से अच् के अकार का लोप, 'चौ' सूत्र से वकारोत्तरवर्ती अकार का दीर्घ–विश्वाची। यहां विश्व शब्द के टि भाग (अ) को 'अद्रि' आदेश प्राप्त था किन्तु बाहुलकात् नहीं हुआ। दूसरा उदाहरण जहाँ 'अद्रि' आदेश हुआ है—देवद्रीची। देवमञ्चतीति—देव + अञ्च + क्विन् (क्विन् का सर्वापहारी लोप)—देव + अञ्च, देव के टि भाग (अ) को 'अद्रि' आदेश–देवद्रि + अञ्च्, 'अनिदितां हलः—(६।४।२४) से उपधा नकार का लोप, 'उगितश्च' से ङीप्, 'अचः' सूत्र से अकार का लोप, 'चौ' सूत्र से 'इ' को दीर्घ—देवद्रीची। इसी प्रकार कुत्सितंमेञ्चतीति कद्रीची। किम् शब्द के 'टि' (इम्) को अद्रि आदेश, ङीप्, लोप, दीर्घ आदि कार्य पूर्ववत्।

१४२. सधमादस्थयोश्छन्दसि ६।३।९६—सहस्य सधादेशः स्यात् मादस्थयोः परतः। इन्द्र त्वास्मिन्सधमादे। सोमः सधस्थम्।

वेद में 'सह' को 'सध' आदेश होता है यदि उत्तरपद में 'माद' अथवा 'स्थ' शब्द हो। यथा—सह माद्यन्ति देवा अस्मिन्निति सधमादः (यज्ञः) सह+मादः=सधमादः, 'सह' को 'सध' आदेश हो गया। वेद में प्रयोग है—'इन्द्र त्वास्मिन् सधमादे' (इन्द्र, तुम्हे इस यज्ञ में बुलाते हैं)। सह तिष्ठतीति सधस्थः (आतोऽनुपसर्गे कः) 'सह' को 'सध' आदेश।

१४३. पथि च छन्दसि ६।३।१०८—पथिशब्दे उत्तरपदे कोः कवं कादेशश्च। कवपथः। कापथः। कुपथः।

लोक में कुत्सितः पन्थाः इति 'कापथम्' अर्थात् 'कु' को 'का' आदेश होता है—('का पथ्यक्षयोः' (६।३।१०४)। वेद में पथ शब्द के उत्तरपद में रहने पर 'कु' को 'कव' और 'का' आदेश होता है। पक्ष में 'कु' ही रह जाता है। कुत्सितः पन्थाः यस्य सः कवपथः, कापथः, कुपथः (देशः)। 'कु' को 'कव' अथवा 'का' आदेश। ऋक्पूरब्धू—अ प्रत्यय। 'नस्तद्धिते' से टि (इन्) का लोप। कवपथः, कापथः, कुपथः। 'यदि कुत्सितः पन्था' ऐसा विग्रह कर कर्मधारय समास करेंगे तो 'पथः संख्याव्ययादेः' से नपुंसक होकर कवपथम्, कापथम्, कुपथम् होगा।

१४४. साढ्यै साढ्वा साढेति निगमे ६।३।११३—सहेः क्त्वाप्रत्यये आद्यं द्वयं, तृनि तृतीयं निपात्यते। मरुद्भिरुग्रः पृतनासु साळ्हा। अचोर्मध्यस्थस्य डस्य ळः ढस्य ळ्हश्च प्रातिशाख्ये विहितः। आह हि—

द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः।
ळ्हकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः।

वेद में साढ्यै, साढ्वा और साढा इन तीन शब्दों की सिद्धि निपातन से होती है। साढ्यै और साढ्वा इन दो की सिद्धि सह (सहन) धातु से

क्त्वा प्रत्यय करने पर होती है। √सह् + क्त्वा, निपातन से क्त्वा के स्थान में वैकल्पिक 'ध्वै'—सह् + ध्वै। 'हो ढः' से ह् को ढ्, ष्टुना ष्टुः' से ध् को ढ्—सढ् + ढ्वै। अब 'ढो ढे लोपः' से पूर्व ढ् का लोपः, 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से सकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ—साढ्वै। 'ध्वै' के अभावपक्ष में सह् + क्त्वा (त्वा), 'हो ढः' से ह् का ढ् झषस्तथोर्धोऽधः' से त् को ध् ष्टुत्व होने से ध् को ढ् 'ढो ढे लोपः' से पूर्व ढ् का लोप—स + ढ्वा। अब 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से 'अ' को दीर्घ हो गया—साढ्वा।

'साढा' की सिद्धि तृन् प्रत्यय से होती है—√सह् + तृन्, 'हो ढः' से ह् को ढ् 'झषस्तथोर्धोऽधः' से त् को ध्, ष्टुत्व, सढ् + ढृ, 'ढो ढे लोपः' से पूर्व ढ् का लोप, 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से 'अ' को दीर्घ—साढृ। साढृ + सु = साढा = सहने वाला विजेता। वेद में प्रयोग है—'मरुद्भिरुग्रः पृतनासु साळ्हा'। मरुतों के साथ वह कठोर, सेनाओं में विजेता है। यहाँ ढ के स्थान पर 'ळ्ह' लिखा गया है ऐसा प्रातिशाख्य में विहित है। दो स्वरों के मध्य में 'ड' को 'ळ' और 'ढ' को 'ळ्ह' हो जाता है। [illegible] भी गया है—

दो स्वरों के बीच में जाकर 'ड' 'ळ' बन जाता है और वही के साथ ढकार ऊष्म वर्ण (ह) प्रयुक्त (ढ) होकर ळ्ह बन जाता है।

१४९. छन्दसि च ६।३।१२६—अष्टन आत्वं स्यादुत्तरपदे। अष्टापदी।

वेद में अष्टन् शब्द को आकार आदेश होता है यदि उत्तर पद में कोई शब्द होता है। अभिप्राय है कि समास में अष्टन् शब्द जब पूर्वपद के रूप में रहता है उस समय उसके 'न्' का तो लोप हो जाता है (न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य), 'अष्ट' इतना अंश शेष रहता है तब अन्तिम अकार को प्रकृत सूत्र से 'आ' हो जाता है। यथा—अष्टापदी। अष्टौ पादा यस्याः सा अष्टापदी। अष्टन् जस् + पाद जस् इस अलौकिक विग्रह में बहुव्रीहि समास होने पर—अष्टन् पाद। न लोप—अष्टपाद। प्रकृत सूत्र से आत्व-अष्टापाद। (संख्यासुपूर्वस्य' (५।४।१४०) से दकारोत्तरवर्ती अकार का लोप—अष्टापाद्। 'पादोऽन्यतरस्याम्' (४।१।८) से ङीप्। ङीप् होने पर 'पाद' की भसंज्ञा होने से 'पादः पत्' (६।४।१३०) से पाद् को 'पत्' आदेश—अष्टापदी।

१४६. मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ ६।३। १३१—दीर्घः स्यान्मन्त्रे। अश्वावतीं सोमावतीम्। इन्द्रियावान्मदिन्तमः। विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता।

मन्त्र में सोम, अश्व, इन्द्रिय तथा विश्वदेव्य शब्द को दीर्घ हो जाता हैं यदि उनसे मतुप् प्रत्यय होता है। यथा—अश्व+मतुप्—अश्व को दीर्घ, मतुप् के मकार को वकार (मादुपधायाश्च मतोर्वो=यवादिभ्यः), 'उगितश्च से ङीप्—अश्वावती—अश्वावतीम् (द्वितीयैकवचनान्त) इसी प्रकार—सोम+मतुप्+ङीप्=सोमावती, द्वितीया में सोमावतीम्। लोक में सोमवती अमावस्या तो प्रसिद्ध ही है, इन्द्रिय+मतुप्=इन्द्रियावान्। विश्वदेव्य+मतुप्=विश्वदेव्यावान्, तृतीया में विश्वदेव्यावता।

१४७. ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम् ६।३।१३२—दीर्घः स्यान्मन्त्रे। यदोषधीभ्यः। अदधात्योषधीषु।

ओषधि शब्द को दीर्घ होता है यदि उसके बाद प्रथमा विभक्ति को छोड़ कर कोई दूसरी विभक्ति आती है। यथा—ओषधि+भ्यस्=ओषधीभ्यः। ओषधि+सुप्=ओषधीषु।

ओषधि शब्द में धा धातु से 'कि' प्रत्यय हुआ है अतः 'कृदिकारादक्तिनः' सूत्र के अनुसार इकारान्त कृत्प्रत्ययान्त ओषधि शब्द से ङीष् प्रत्यय हो सकता है, अतः उक्त सूत्र व्यर्थ है, ऐसा सोचना ठीक नहीं है क्योंकि ङीप होने से शब्द अन्तोदात्त हो जायगा जब कि 'लघावन्ते०' फिट्सूत्र ४२ से आद्युदात्त करना अभीष्ट है।

१४८. ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम् ६।३।१३३ दीर्घः स्यात्। आ तू न इन्द्र। नू मर्तः। उत वा घा स्यालात्। मक्षू गोमन्तमीमहे। भरता जातवेदसम्। तङिति थादेशस्य ङित्त्वपक्षे ग्रहणम्। तेनेह न—शृणोत ग्रावाणः। कूमनाः। अत्रा ते भद्रा यत्रा नश्चक्रा। उरुष्या णः।

ऋग्वेद में तु, नु, घ, मक्षु, तङ् (लोट् मध्यमपुरुष थस् का त आदेश जो ङित् माना जाता है) कु, त्र, उरुष्य इन शब्दों के अन्तिम वर्ण को दीर्घ हो जाता है। 'घ' से तरप् और तमप् प्रत्यय का ग्रहण नहीं होता है, 'घ' शब्द-स्वरूप का ग्रहण होता है। तङ्=लोट् लकार में मध्यमपुरुष बहुवचन की 'थ' विभक्ति को 'त' आदेश होता है—'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' (३।४।१०४) यह त आदेश ङित् माना जाता है क्योंकि 'लोटो लङ्वत्' सूत्र से लोट् को लङ्वत् (ङित्) मानने पर ही 'थ' को उक्त सूत्र 'त' कर पाता है। दूसरे 'थ' प्रत्यय अपित् होने से 'सार्वधातुकमपित्' के अनुसार ङिद्वत् है।

उदाहरण—'आ तू न इन्द्र' (तु को दीर्घ तू)। नू मूर्तः (नु को दीर्घ नू)। उत वा घा स्यालात् (घ को दीर्घ घा) मक्षू गोमन्तमीमहे (मक्षु को दीर्घ मक्षू) भृ+लोट् (थ=त) भरत-दीर्घ होने से 'भरता'। प्रयोग है—भरता जातवेदसम् (अग्नि को हव्य दें)। कूमनाः (कुत्सित मनवाला, कु को दीर्घ कू)। अत्रा ते भद्रा (अत्र को दीर्घ अत्रा)। यत्रानश्चक्रा (यत्र को दीर्घ यत्रा)। उरुष्य (रक्षा करो, कण्ड्वादि धातु) उरुष्य+लोट् मध्यमपुरुष एकवचन में 'उरुष्य' रूप होता है, दीर्घ होने से उरुष्या। प्रयोग है—उरुष्या णः। 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः (८।४२७) से नकार का णत्व।

यह अवधेय है कि सूत्र में तङ् से ङित् प्रत्ययान्त क्रिया पद का ही ग्रहण होता है अतः 'श्रृणोत' में दीर्घ (श्रृणोता) नहीं होता है क्योंकि यह वैदिक तप् प्रत्यय से बना है जो पित् है, पित् होने से ङित् नहीं हो पाता है क्योंकि अपित् सार्वधातुक ही ङित् होता है (सार्वधातुकमपित्)। श्रु + लोट् (थ) थ को 'तप्तनप्तनथनाश्च' (७।१।४५) से तप् आदेश। पित् होने से ङित् नहीं हुआ अत एव श्नु (नु) विकरण को गुण होकर 'श्रृणोत' बनता है जब कि लोक में 'श्रृणुत' होता है। प्रयोग है–श्रृणोत ग्रावाण (हे पत्थरो, सुनो)।

१४९. इकः सुञि ६।३।१३४—ऋचि दीर्घ इत्येव। अभी षु णः सखीनाम्। 'सुञः' (८।३।१०७) इति षः। 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (८।४।२७) इति णः।

ऋग्वेद में इगन्त (जिनके अन्त में इ, उ, ऋ, अथवा लृ रहे) शब्द के अन्तिम वर्ण को दीर्घ हो जाता है यदि उससे परे सुञ् (अर्थात् सु अव्यय) रहे। जैसे--अभि सु नः=अभीषुणः। अभि को दीर्घ 'अभी'। सु के स् को मूर्धन्य (ष्) आदेश ('सुञः' ८।३।१०७)। षु के बाद न को ण ('नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः ८।४।२७)।

१५०. द्व्यचोऽतस्तिङः ६।३।१३५—मन्त्रे दीर्घः। विद्मा हि चक्रा जरसम्।

मन्त्र या ऋग्वेद में यदि कोई तिङन्त पद दो अच् (स्वर) रखने वाला तथा ह्रस्व अकारान्त होता है तो उसके अन्तिम वर्ण को दीर्घ हो जाता है। यथा--'विद्मा हि चक्रा जरसम्' मन्त्र में 'विद्म' का 'विद्मा' तथा 'चक्र' का 'चक्रा' हो गया है। √विद्+लट् (मस्)---'विदो लटो वा' (३।४।८३) के अनुसार लट् परस्मैपद के णलादि आदेश होने से 'मस्' को 'म' हो गया—विद्म, दीर्घ होने से विद्मा।

√कृ+लिट् (थ=अ)=चक्र, दीर्घ होने से चक्रा। तिङन्त पद यदि दो अच् रखने वाला नहीं होगा तो अकारान्त होते हुए भी दीर्घ नहीं होगा। जैसे—'देवा भवतवाजिनः' में 'भवत' का दीर्घ नहीं हुआ (यह तीन अच् रख रहा है)। इसी प्रकार दो अच् रखते हुए भी यदि ह्रस्व अकारान्त नहीं होगा तो दीर्घ नहीं होगा। जैसे 'आ देवान् वक्षि यक्षि च' में वक्षि और यक्षि का दीर्घ नहीं हुआ क्योंकि दो अच् रखते हुए भी ये ह्रस्व अकारान्त नहीं, इकारान्त हैं।

१५१. निपातस्य च ६।३।१३६—एवा हि ते।

(१) अन्येषामपि दृश्यते ६।३।१३७—अन्येषामपि पूर्वपदस्थानां दीर्घः स्यात्। पूरुषः। दण्डादण्डि।

दो अच् वाले निपात को भी दीर्घ होता है। जैसे—'एवा हि ते' में एव को एवा। एव शब्द चादिगण में पठित होने से निपात है।

पूर्वपद में स्थित अन्य पदों (जो दो अच् वाले नहीं हैं) को भी दीर्घ होता है, जैसे पुरुषः से पूरुषः। ... दण्डा-

दण्डि। 'तत्र तेनेदमिति सरूपे' (२।२।२७) से बहुव्रीहि। 'अन्येषामपि दृश्यते' (६।३।१३७) से दीर्घ, 'इच् कर्मव्यतिहारे' (५।४।१२७) से समासान्त इच् प्रत्यय—दण्डादण्डि।

१५२. छन्दस्युभयथा ६।४।५—नामि दीर्घो वा। धाता धातॄणाम्-इति बह्वृचाः। तैत्तिरीयास्तु ह्रस्वमेव पठन्ति।

इस सूत्र से पूर्व दो सूत्र हैं—(१) नामि (६।४।३) इसके अनुसार अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है नाम् (नुट्+आम् षष्ठी बहुवचन) के पर में होने पर जैसे—रामाणाम्, हरीणाम्, पितॄणाम्। (२) न तिसृचतसृ (६। ४।४) इसके अनुसार तिसृ चतसृ को नाम् के परे रहने पर दीर्घ नहीं होता है। इसके बाद 'छन्दस्युभयथा' (६।४।५) सूत्र आता है। कौमुदीकार इस सूत्र का सम्बन्ध 'नामि' (६।४।३) से मान कर व्याख्या करते हैं कि वेद में नाम् के परे रहने पर अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है, कहीं नहीं भी होता है। जैसे धातृ+नाम्=धातॄणाम् ऐसा बह्वृच् लोग पढ़ते हैं, तैत्तिरीय लोग दीर्घ न कर ह्रस्व ही पढ़ते हैं—धातृणाम्। 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' के अनुसार णत्व हुआ है।

काशिकाकार इस 'छन्दस्युभयथा' सूत्र में पूर्वसूत्र (६।४।४) से केवल तिसृचतसृ की अनुवृत्ति मानते हैं, तदनुसार नाम् के पर में होने पर केवल तिसृ और चतसृ को ही वैकल्पिक दीर्घ होना चाहिए। कौमुदीकार के दृष्टिकोण की व्यापकता और काशिकाकार की सङ्कीर्णता स्पष्ट है। नागेश जी कौमुदीकार के मत को मान्यता प्रदान करते हुए काशिकाकार के मत को अयुक्त ठहराते हैं—'वृत्तिकृतस्तिसृचतस्रोरत्रानुवृत्तिस्त्वयुक्ता।'

१५३. वा षपूर्वस्य निगमे ६।४।९— षपूर्वस्यान उपधाया वा दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे। ऋभुक्षाणम्। ऋभुक्षणम्। निगमे किम्? तथा। तक्षाणौ।

लोक में सूत्र है—सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६।४।८)। इस सूत्र के अनुसार नकारान्त शब्द की उपधा को दीर्घ होता है, सम्बुद्धिभिन्न सर्वनाम-

स्थान विभक्ति के परे रहने पर। अर्थात् सम्बोधन में नान्त शब्द की उपधा को दीर्घ नहीं होगा, शेष सु से लेकर द्वितीया की औट् विभक्ति तक (जो नपुंसक न हों) में तथा नपुंसकलिङ्ग की अस् और शस् विभक्ति में नान्त शब्द की उपधा को दीर्घ हो जाता है। इसीके सम्बन्ध में वेद में कुछ विशेषता पायी जाती है, वह यह है कि नान्त शब्द की उपधा जो निश्चित रूप से स्वर होगी–के पूर्व यदि ष् व्यञ्जन हो तो उस उपधा को विकल्प से दीर्घ होगा, सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान विभक्ति के पर में होने पर। जैसे ऋभुक्षिन् + अम् (द्वितीया एकवचन अतः सर्वनामस्थान)—'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (७।१।८६) से इकार को अकार—ऋभुक्षन्+अम्। यहां अन्तिम वर्ण न् से पूर्व 'अ' उपधा है (अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा), उस 'अ' से पूर्व ष् (क्ष्= क्+ष्) है अतः प्रकृत सूत्र के अनुसार उपधा 'अ' को विकल्प से दीर्घ होगा—दीर्घ होने पर न् को ण्[1] होकर ऋभुक्षाणम् और दीर्घ न होने पर ऋभुक्षणम् ये दो रूप होंगे।

निगमे किम् ? निगम कहते हैं वेद को। 'वेद में' ऐसा क्यों कहा ? इस लिए कि लोक में तो नित्य दीर्घ ही होगा—जैसे तक्षा, तक्षाणौ। सम्बुद्धि में ह्रस्व ही होगा—ऋभुक्षन्।

१५४. जनिता मन्त्रे ६।४।५३—इडादौ तृचि णिलोपो निपात्यते। यो नः पिता जनिता।

१५५. शमिता यज्ञे ६।४।५४—शमयितेत्यर्थः।

वेद में जनयतीति 'जनिता' होता है। √जन्+णिच्+इट्+तृच् इस स्थिति में णिच् का निपातन से लोप होता है—जनितृ—प्रथमा में जनिता, जनितारौ, जनितारः। लोक में णिच् का लोप नहीं होता। णित्वात् 'अत उपधायाः' सूत्र से जन् की उपधा 'अ' को वृद्धि 'आ' होने पर 'जनीजॄष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च' (गण सूत्र १८८) के अनुसार जन् धातु मित्संज्ञक होने से 'मितां ह्रस्वः' (६।४।९२) के द्वारा उपधा 'आ' का ह्रस्व हो जाने से

१. ऋभुक्षः 'स्वर्गवज्रयोः'। ऋभुक्ष शब्द से मत्वर्थीय इनि प्रत्यय—ऋभुक्षिन्। ऋभुक्षिन्+अम्=ऋभुक्षाणम्, ऋभुक्षणम्, 'प्रातिपदिकान्तनुंविभक्तिषु च' (८।४।११) से न को ण।

जनि + इट्+तृच् इस स्थिति में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से जनि के इ को गुण (ए) तथा 'एचोऽयवायावः' से ए का अय्—जनयितृ। प्रथमा एकवचन में जनयिता।

यज्ञ का विषय होने पर उपर्युक्त विधि से शमिता शब्द भी निपातन से सिद्ध होता है। शमयतीति शमिता (शान्त करने वाला) शम्+णिच् + इट्+तृच्—निपातन से णिच् का लोप—शमितृ। प्रथमा एकवचन में शमिता। लोक में 'शमयिता' होता है क्योंकि णिच् का लोप नहीं होता। शम्+णिच् + इट्+तृच्—णित्वात् 'अत उपधायाः' सूत्र से शम् की उपधा 'अ' को वृद्धि 'आ' होने पर 'मितां ह्रस्वः' से उसें ह्रस्व होकर 'शमयिता' बनता है।

१५६. युप्लुवोर्दीर्घश्छन्दसि ६ । ४ । ५८—ल्यपीत्यनुवर्तते । वियूय, विप्लूय ।

वेद में 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' तथा 'प्लुङ् गतौ' धातु को दीर्घ हो जाता है, ल्यप् प्रत्यय लगने पर। यह अवधेय है कि 'समासे' नञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् (७। १।३७) के अनुसार ल्यप् होने के लिए धातु के पूर्व कोई उपसर्ग अवश्य होना चाहिए। यथा—वि+√यु+ल्यप्=वियूय। वि+√प्लु=विप्लूय।

१५७. आडजादीनाम् ६।४।७२—छन्दस्यपि दृश्यते (६। ४। ७३)—अनजादीनामित्यर्थः । आनट् । आवः ।

लोक में हलादि धातुओं के पूर्व लुङ्, लङ्, लृङ् लकारों में अट् का आगम होता है (लुङ्-लङ्-लृङ् क्ष्वड्डुदात्तः) और अजादि धातुओं के इन्हीं लकारों में अट् के स्थान में आट् का आगम होता है। यह आट् का आगम वेद में हलादि धातुओं के भी होता है। जैसे—आनट्। आवः। आनट्—नश् धातु से लुङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में तिप् 'च्लिलुङि' से च्लि, 'मन्त्रे घसह्वर०' से च्लि का लुक् 'छन्दस्यपि दृश्यते' (६।३।७३) प्रकृतसूत्र से आट् का आगम आनश् ति। 'इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यः'—से त् का लोप—आनश्। चूंकि 'नशेर्वा' (८।२।६३) से वैकल्पिक कवर्ग अन्तादेश होता है अतः यहां उसके न होने पर 'व्रश्चभ्रस्जसृज०' (८।२।३६) से शकार का षत्व—आनष्। 'वावसाने' से झल् (ष्) का

चर् (ट्) आनट् (चर्त्वाभाव में 'झलां जशोऽन्ते' से प् को जश् ड्—आनड्)।

आवः—वृ धातु से आट् होने पर आ+वृ+लुङ् (तिप्) 'मन्त्रे घस ह्वर०' से च्लि का लुक्, 'इतश्च' सूत्र से 'ति' के इकार का लोप, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से ऋ का गुण (रपर होते हुए) अर्—आवर् त्। 'हल्ङ्याब्भ्यः'—से त् का लोप, रेफ का विसर्ग (खरवसानयोर्विसर्जनीयः)—आवः।

१५८. न माङ्योगे ६।४।७४—बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि ६।४।७५—अडाटौ न स्तः, माङ्योगेऽपि स्तः। जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय। मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः।

लोक में यदि वाक्य में माङ् अव्यय का प्रयोग होता है तो लुङ् लकार का प्रयोग होता है और वहां हलादि धातु के अट् अथवा अजादि धातु के आट् का आगम नहीं होता है किन्तु वेद में माङ् का योग होने पर भी अट् अथवा आट् का आगम होता है तथा माङ् का योग न रहने पर भी अट् अथवा आट् का आगम नहीं होता है। यथा—जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय (तुम शीघ्र बलप्रदर्शन के लिए भयंकर हुए हो—उत्पन्न हुए हो) यहां माङ् का योग नहीं है अतः नियमतः 'जनिष्ठाः' में अट् का आगम होना चाहिए था किन्तु नहीं हुआ √जन्+लुङ् (थास्), च्लि को सिच्, इट् का आगम, स् को ष्, 'ष्टुना ष्टुः' से थ् को ठ् जनिष्ठाः। लोक में अजनिष्ठाः।

माङ् का योग रहने पर भी अट् अथवा आट् का होना—यथा—मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः (तुम्हारे क्षेत्र-पत्नी में दूसरे के बीज न बोये जांय) यहां माङ् का योग है तब भी अट् का आगम हुआ है जब कि नियमतः माङ् के योग में अट् का आगम नहीं होना चाहिए था। अट्+वप्+लुङ् (झि=जुस्) सिच्, 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से वृद्धि—अवाप्सुः। लोक में 'मा वाप्सुः' होगा। यहाँ अवधेय है कि लुङ् लकार कर्म में हुआ है। व्यत्यय से आत्मनेपद न होकर परस्मैपद हुआ है। सुबोधिनीकार इसे काशिका के अनुरोध से उदाहृत कहते हैं। वे कौमुदी का पाठ 'वाप्सुः' ही मानते हुए माङ् के योग में अट् का उदाहरणान्तर अन्यत्र ढूँढने का निर्देश देते हैं। सुबोधिनीकार का यह कथन ठीक नहीं जँचता है क्योंकि वेद की विशेष विधियों और उदाहरणों

को दिखाना तथा मूलग्रन्थ में 'माङ्योगेऽपि स्तः' का उदाहरण दिखाना अत्यन्त आवश्यक है। अत-'अवाप्सुः' पाठ ही समीचीन है।

१९९. इरयो रे ६।४।७६—प्रथमं द॒ध्र आपः। रेभावस्य आभीयत्वेन असिद्धत्वादालोपः। अत्र रेशब्दस्येटि कृते पुनरपि रेभावस्तदर्थं च सूत्रे द्विवचनान्तं निर्दिष्टमिरयोरिति।

लिट् लकार में आत्मनेपद में 'झ' को इरेच् (इरे) आदेश होता है—'लिटस्तझयोरेशिरेच्' (३।४।८१) इस 'इरे' को वेद में 'रे' हो जाता है। जैसे-'प्रथमं दध्र आपः' (जल ने पहिले (गर्भ) धारण किया) यहाँ 'दध्रे' का प्रयोग देखा जाता है—'इरे' का 'रे' हो गया है। लोक में 'दधिरे' होता है। अत्र इस पद (दध्रे) की सिद्धि की प्रक्रिया देखिए—धा + लिट् (झ= इरे), द्वित्व–धा धा + इरे, 'अभ्यासे चर्च' से ध् को द्—दा धा + इरे 'ह्रस्व' सूत्र से 'दा' को ह्रस्व—दधा + इरे। अब इस स्थिति में 'इरे' अजादि कित् आर्धधातुक पद में होने से 'आतो लोप इटि च' (६।४।६४) से 'धा' के आ का लोप प्राप्त हुआ तथा 'इरयो रे' (६।४।७६) से 'इरे' को रेभाव भी प्राप्त है, दोनों में से एक ही कार्य हो सकता है, तो कौन सा कार्य हो-इसका निर्णय 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र करता है कि तुल्य वलविरोध में पर कार्य हो। यहाँ स्पष्ट है कि इरे का रेभाव पर कार्य है अतः यही हुआ—दधा + रे। अब समस्या 'आलोप' की आ गयी। वह यह कि इरे को 'रे' तो कर दिया गया जो अजादि नहीं है और आलोप तभी होगा जब अजादि आर्धधातुक पर में हो. तो 'आतो लोप इटि च' से आ लोप नहीं हो सकेगा फिर 'दध्रे' कैसे बनेगा ? इसके लिए दीक्षित जी कहते हैं कि रेभावस्य आभीयत्वेनासिद्धत्वादालोपः। अर्थात् एक सूत्र है—असिद्धवदत्राभात् (६।४।२२)। इसका अधिकार 'भस्य' (६।४।१२९) तक चलता है। इन दोनों सूत्रों के बीच में जितने कार्य होते हैं वे 'आभीय' कहे जाते हैं। इसमें कहे हुए कार्य बाद में होने से असिद्ध के समान मान लिये जाते हैं (समानाश्रयत्वात् तस्मिन् कर्त्तव्ये तदसिद्धम्) अतः यहाँ इरे का 'रे' हो जाने के वाद 'आतो लोप इटि च' से आ लोप की कर्त्तव्यता में 'इरयो रे' का कार्य (रेभाव) पर कार्य

होने से असिद्ध हो जायगा। इस प्रकार केवल 'धा' के आकार का लोप करने के लिए इरे का रेभाव असिद्ध मान लिया गया और 'आतो लोप इटि च' की निर्वाध प्रवृत्ति हो जाने से 'आ' का लोप हो जाने से 'दध्रे' वन गया।

अब एक दूसरी समस्या खड़ी हो जाती है। एक सूत्र है—'कृ सृ भृ वृ स्तु द्रु स्रु श्रु वो लिटि (७।२।१३)। इस सूत्र पर कहा गया है--'कृसृभृवृ'--इत्युक्तेन क्रादिभ्य एव परस्य लिट इण् निषेधः, अन्येभ्यस्तु परस्य इट् स्यादेव' इस नियम के अनुसार कृ आदि धातुओं को छोड़कर अन्य धातु सेट् हैं अतः 'धा' धातु भी सेट् होगी तब रेभाव होने से उसे वलादि आर्धधातुक मान कर 'रे' के इट् का आगम (आर्धधातु कस्येड्वलादेः) हो जायगा और 'दधिरे' ही बनेगा, 'दध्रे' नहीं। दीक्षित जी अपनी सूक्ष्मेक्षिका से इस समस्या का भी समाधान ढूढ़ ही लेते हैं। वे कहते हैं कि ठीक है, आप 'रे' के इट् का आगम कर लीजिए और 'रे' को 'इरे' कर लीजिए। हम इस 'इरे' का भी 'इरयो रे' सूत्र से रेभाव कर देंगे और 'दध्रे' बना ही लेंगे, क्योंकि इसी दूसरे इट् सहित रे (इरे) को 'रे' करने के लिए ही पाणिनि जी ने 'इरयो रे' सूत्र में 'इरयोः' ऐसा द्विवचनान्त का निर्देश किया है ताकि दोनों प्रकार के 'इरे' का रेभाव सिद्ध हो जाय। यहाँ अवधेय है कि 'इरयो रे' में दो तरह से विच्छेद हो सकता है—(१) इरे+षष्ठी एकवचन का ङस्—इरयः + रे=इरयो रे। (२) इरे+षष्ठी द्वि० व० ओस्—इरयोः + रे= इरयो रे। दीक्षित जी यहाँ यही दूसरे प्रकार का विच्छेद स्वीकार कर दोनों प्रकार के इरे के स्थान में 'रे' होने का अर्थ निकाल लेते हैं और बड़ी सफाई से समस्या का समाधान कर लेते हैं।

अब एक और समस्या उठ खड़ी होती है। वह यह कि 'इरयोरे' में रे भाव 'इरे' पद का उच्चारण करके कहा जा रहा है अतः 'इरे' प्रतिपदोक्त है किन्तु 'रे' को इट् आगम होने से जो 'इरे' उपस्थित हुआ है वह लाक्षणिक पद है, लक्षण से समझा जाता है, मुख्य नहीं है अतः 'लक्षण प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव' परिभाषा के अनुसार लिट् प्रथम पुरुष के बहुवचन 'इरे' प्रतिपदोक्त शब्द को ही 'रे' हो सकता है, इट् सहित रे (इरे) को 'रे' भाव नहीं हो सकता है। इसका समाधान यह है कि 'इरयो रे' सूत्र में पाणिनि ने जो 'इरयोः' ऐसा द्विवचनान्त प्रयोग किया है वही इस परिभाषा को अनित्य सिद्ध कर रहा है अतः इट् सहित रे (इरे) का रेभाव निर्बाध है।

१६०. छन्दस्युभयथा ६।४।८६—भूसुधियोर्यण् स्यात्, इयङ् उवङौ च। वनेषु चित्रं विभ्वम्। विभुवं वा। सुध्यो हव्यमग्ने। सुधियो वा।

(१) तन्वादीनां छन्दसि बहुलम् (वा०)—तन्वं पुषेम। तनुवं वा। त्र्यम्बकम्। त्रियम्बकं वा।

लोक में 'न भूसुधियोः (६।४।८५) के अनुसार भू और सुधी शब्दों को अजादि सुप् विभक्ति लगने पर यण् नहीं होता इयङ् उवङ् आदेश होता है। ङित् होने के कारण 'ङिच्च' सूत्र से अन्तिम वर्ण 'ई' को ही इयङ् और अन्तिम वर्ण 'ऊ' को उवङ् होगा जैसे भू अम् भुवम् इसी प्रकार सुधी अम् सुधियम्। किन्तु वेद में दोनों प्रकार के आदेश–यण् तथा इयङ् उवङ् होते हैं। वि+√भू+डु=विभु, विभु+अम् विभ्वम् (इको यणचि से यण्) और उवङ् होने पर विभुवम्। सुधी जस् (प्र०ब०व०)-सुधी अस् ('चुटू' से ज् की इत्संज्ञा) यण् होने पर सुध्यः और इयङ् होनेपर सुधियः।

वेद में तनु आदि शब्दों के भी यण् और इयङ् उवङ् बहुलरूप से होते हैं। तनु+अम् तन्वम् (यण्)। यण् न होने पर उवङ्—तनुवम्। त्रीणि अम्बकानि यस्य स त्र्यम्बकः त्रियम्बकः तम्। त्रि+अम्बकम्=त्र्यम्बकम् (यण्), त्रियम्बकम् (इयङ्)। लोक में केवल 'त्र्यम्बकम्' होगा। कालिदास ने कुमारसम्भव (३।४४) में 'त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श' ऐसा प्रयोग किया है। वहाँ 'त्रियम्बकम्' वैदिक व्याकरण के ही अनुसार है।

१६१. तनिपत्योश्छन्दसि ६।४।९९–एनयोरुपधालोपः क्ङिति प्रत्यये। वितत्निरे कवयः। शकुना इव पप्तिम। भाषायां वितेनिरे, पेतिम।

वेद में तनु (विस्तारे) और पत्लृ (पतने) धातु की उपधा का लोप होता है यदि इनके बाद अजादि कित् या ङित् प्रत्यय हो। जैसे–वि+तन्+लिट् (झ)। 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' सूत्र से झ को इरेच् (इरे), 'लिटि धातोर-नभ्यासस्य' से तन् को द्वित्व—वि तन् तन् इरे। 'हलादिःशेषः' से आदिहल् का

शेष होना—वित तन् इरे। अत्र प्रकृतसूत्र से तन् की उपधा (अ) का लोप, क्योंकि 'इरे' अजादि प्रत्यय है और 'असंयोगाल्लिट् कित्' के अनुसार कित् भी है—वि त त् न् इरे—वितत्निरे। इसी प्रकार पत्+लिट् (मस्-म), द्वित्व, इट् का आगम (आर्धधातुकस्येड्वलादेः)—पत् पत् इम। 'हलादिः शेषः' से—पपत् इम। प्रकृत सूत्र से पत् की उपधा 'अ' का लोप–क्योंकि 'इम' अजादि प्रत्यय और 'असंयोगाल्लिट्कित्' के अनुसार कित् है—पप्त् इम=पप्तिम। लोक में 'वि तन् तन् इरे' इस स्थिति में 'असंयोगाल्लिट् कित्' से इरे' के कित् होने से 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' के अनुसार कित् लिट् पर में होने से दो असंयुक्त हल् (द्वितीय 'तन्' के त् और न्) के बीच स्थित 'अ' का ए हो गया और अभ्यास (पूर्व तन्) का लोप हो गया—वितेन् इरे=वितेनिरे। इसी प्रकार—'पत् पत् इम' इस स्थिति में 'अत एकहल्मध्ये०' से अभ्यासलोप, द्वितीय पत् के अ को ए—पेतिम।

यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि 'तनिपत्योश्छन्दसि' और 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' दोनों आभीय प्रकरण के अन्तर्गत हैं, अतः वेद में उपधा 'अ' का लोप करने के बाद 'वि त प् न् इरे' तथा 'प त् त् इम' इस स्थिति में उपधा-लोप को आभीय कार्य होने से असिद्ध मान कर 'अत एकहल्मध्ये०' से एत्व और अभ्यास का लोप क्यों नहीं होता? इसका समाधान यह है कि उपधा '(अ)' के लोप को असिद्ध मान लेने पर भी एत्व और अभ्यास लोप नहीं होगा क्योंकि उपधा (अ) के लोप का विधान बलवान् है। उसका विधान ही यह बता रहा है कि वह इसी उद्देश्य से किया गया है ताकि एत्व और अभ्यासलोप न हो सके।

१६२. घसिभसोर्हलि च ६।४।१००–सग्धिश्च मे। बब्धां ते हरी धानाः।

वेद में घस् (अद् धातु के स्थान में होने वाला आदेश) तथा भस (भर्त्सनदीप्त्योः) जुहोत्यादिगणीय धातु की उपधा का लोप होता है यदि बाद में हलादि या अजादि कित् ङित् प्रत्यय हो। जैसे—सग्धिः (सहभोज)। अद् धातु से क्तिन् (ति) प्रत्यय जो स्पष्ट हलादि और कित् है। 'बहुलं छन्दसि' से अद् को घस् आदेश—घस् ति। प्रकृत सूत्र से उपधा (अ) का लोप—

घ् स् ति। 'झलो झलि' से झल् (स्) का लोप—घ्ति। झषस्तथोर्धोऽधः' से त् को ध्—घ् धि। 'झलां जश् झशि' से झल् (घ्) को जश् (ग्)—ग्धिः। अब 'समाना ग्धिः' इस विग्रह में समास करने पर 'समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदकर्षेषु' सूत्र से 'समान' को 'स'—सग्धिः। भस् धातु का उदाहरण है—बब्धाम्।√भस्+लोट् (तस्=ताम्)—भस् ताम्। जुहोत्यादि होने से 'श्लु' विकरण। 'श्लौ' सूत्र से द्वित्व, अभ्यास कार्य—भ भस् ताम्। 'अभ्यासे चर्च' से भ को जश् (ब)—ब भस् 'ताम्'। 'ताम्' अपित् सर्वधातुक होने से 'ङित्' माना जाता है (सार्वधातुकमपित्) और हलादि भी है अतः प्रकृत सूत्र से भस् ' की उपधा (अ) का लोप ब भ् स् ताम्। 'झलो झलि' स् का लोप, 'झषस्तथोर्धोऽधः' से 'ताम्' के 'त्' को 'ध्'-बभ् धाम्। 'झलां जश् झशि' से झल् (भ्) को जश् (ब्)—बब्धाम्।

१६३. हुझल्भ्यो हेर्धि ६।४।१०१—श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि (६।४।१०२)—श्रुधी हवम्। शृणुधी गिरः। रायस्पूर्धि। उरुणस्कृधि। अपावृधि।

सूत्र है—'हुझल्भ्यो हेर्धिः'। इसके अनुसार√हु (हवन करना) तथा झलन्त धातुओं के बाद लोट् लकार के 'हि' के स्थान में धि' आदेश होता है। वेद में यह 'धि' आदेश 'श्रु' शृणु' पृ' कृ और वृ धातु के भी बाद स्थित 'हि' को होता है। जैसे—श्रुधी। श्रु+हि—प्रकृत सूत्र से 'हि' को 'धि'। 'बहुलं छन्दसि' से शप् का लुक् होने से 'स्वादिभ्यः श्नुः' से होने वाला 'श्नु' विकरण तथा 'श्रुवः शृ च' से होने वाला 'शृ' आदेश नहीं हुआ। 'अन्येषामपि दृश्यते' से 'धि' को दीर्घ होने से—श्रुधी। वेद में प्रयोग है—श्रुधी हवम् (हमारा आवाहन सुनो)। दूसरा उदाहरण है—शृणुधी। 'श्रु + हि' इस स्थिति में 'श्रुवः शृ च' से -शृ' आदेश और 'श्नु' विकरण, 'श्नु' के नकार को णत्व (ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्), 'हि' को प्रकृत सूत्र से 'धि'—शृणुधि। यहाँ यह अवधेय है कि 'हि' के स्थान से जो 'धि' का विधान किया गया है उसी के सामर्थ्य से 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' (६।४।१०६) से 'हि' का लुक् नहीं होता है। 'अन्येषामपि दृश्यते' से दीर्घ शृणुधी। वेद में प्रयोग है—शृणुधी गिरः (वचनों को सुनो)।

(३) पूर्घि। पृ+हि, 'हि' को 'घि'—पृ घि। 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (७।१।१०२) से 'ॠ' को उत् (उ) उरण् रपरः' से उसका रपरत्व—पुर्घि। 'हलि च' (८।२।७७) के अनुसार उपधा (उ) को दीर्घ—पूर्घि। वेद में प्रयोग है—रायस्पूर्धि (धन पूरा करो)।

(४) कृधि। कृ + हि, 'बहुलं छन्दसि' से शप् का लुक् होने से 'तनादि कृञ्भ्य उः' से होने वाला 'उ' विकरण नहीं हुआ। 'हि' को 'धि'—कृधि। इस धित्व विधान के सामर्थ्य से 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' की प्रवृत्ति न होने के कारण 'हि' का लोप नहीं होता।

वेद में प्रयोग है—उरुणस्कृधि। (नः=हमें, उरु=बहुत धन, कृधि=करो) उरु नः कृधि=उरुणस्कृधि। 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (८।४।२७) से नकार का णत्व, 'कःकरत्करति-कृधिकृतेष्वनदितेः' (८।३।५०) के अनुसार विसर्ग के बाद कृधि शब्द होने से विसर्ग को स् हो गया है। लोक में 'कृधि' के स्थान में 'कुरु' होता है।

(५) अपावृधि—अप+√ वृ+हि 'बहुलं छन्दसि' से शप् का लुक् हो जाने से श्नु विकरण का अभाव 'हि' को 'धि', धित्वविधानसामर्थ्य से हि का लोप भी नहीं—अपवृधि। 'अन्येषामपि दृश्यते' से अप को दीर्घ—अपावृधि। लोक में अपवृणु।

१६४. वा छन्दसि ३।४।८८—हिरपिद् वा।

१६५. अङितश्च ६।४।१०३—हेर्धिः स्यात्। रारन्धि। रमेर्व्यत्ययेन परस्मैपदम्। शपः श्लुरभ्यासदीर्घश्च। अस्मे प्रयन्धि। युयोधि जातवेदः। यमेः शपो लुक्। यौतेः शपः श्लुः। 'अङितः' किम्? प्रणीहि।

लोक में 'सेर्ह्यपिच्च' (३।४।८७) के अनुसार सि (सिप्) को 'हि' होता है और सिप् (जो पित् है) के स्थान में होने पर भी वह 'हि' पित् नहीं, अपित् माना जाता है जिस का फल यह होता है कि सार्वधातुकमपित् के अनुसार हि' ङित् स्वीकार किया जाता है। वेद में यह 'सि' के स्थान में होने वाला 'हि' अपित् विकल्प से होता है अर्थात् 'हि' जब अपित् होगा तब ङित् भी होगा (सार्वधातुकमपित) किन्तु जब अपित् नहीं होगा तब पित्

'सि' के स्थान में होने से पित् माना ही जायगा और पित् मान लेने से ङित् नहीं होगा बल्कि अङित् होगा।

इस प्रकार जब हि (पित् मान लेने पर) अङित् होगा तब वेद में 'हि' के स्थान में 'धि' आदेश होता है। जैसे—रम् धातु (जो आत्मने पद है किन्तु व्यत्यय से यहां परस्मैपद है) से लोट् (सि=हि)—रम् हि। 'व्यत्ययो वहुलम्' से शप् के स्थान में व्यत्यय से श्लुविकरण, 'श्लौ' से द्वित्व, अभ्यास कार्य र रम् हि। यहां 'वा छन्दसि' के अनुसार अपित् के अभाव पक्ष में 'हि पित् होने से अङित् है अतः 'अङितश्च' से 'हि' को 'धि'—ररम् धि। अब 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' से अभ्यास दीर्घ–रारम्धि। 'नश्चापदान्तस्य झलि' (८।३।२४) से अपदान्त म् को अनुस्वार, तथा अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (८।४।५८) से अनुस्वार को परसवर्ण नकार—रारन्धि।

यहाँ यह अवधेय है कि 'हि' के 'अङित् होने के कारण ही 'अनुदात्तोपदेश-वनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (६।४।३७) से म् का लोप भी नहीं होता है।

(२) अस्मे प्रयन्धि। प्र+√ यम्+हि, 'वहुलं छन्दसि' से शप् का लुक्' 'हि' के पित् अतएव अङित् होने के कारण 'अनुदात्तोपदेश'—से म लोप भी नहीं, 'अङितश्च' सूत्र से 'हि' को 'धि, यम् के मकार को अनुस्वार तथा परसवर्ण—प्रयन्धि।

(३) युयोधि जातवेदः। अदादि गणीय यु धातु से लोट् (सिप्=हि) यु+हि। अदादि होने पर भी 'व्यत्ययो वहुलम्' से शप् को श्लु। 'श्लौ' से द्वित्व यु यु हि। यहां हि को पित् होने से अङित् मान कर 'अङितश्च' सूत्र से धि हुआ—युयुधि। 'हि' अङित् है अतः 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण होने में बाधा नहीं—युयोधि। लोक में 'रारन्धि' के स्थान पर 'रमस्व' 'प्रयन्धि' के स्थान पर 'प्रयच्छ' तथा 'युयोधि' के स्थान पर 'युहि' होता है।

अङित् 'हि' को 'धि' हो—ऐसा क्यों कहा ? इस लिए कि जहां 'हि' (अपित् होने से) ङित् होगा वहां 'हि' को 'धि, नहीं होगा, जैसे प्रणीहि। यहां 'हि' अपित् अतएव ङित् है अतः 'हि' को धि' नहीं हुआ। प्र+णी +हि, 'वहुलं छन्दसि' से शप् का लुक् 'हि' के ङित्' होने के कारण 'हि' को 'धि' नहीं हुआ तथा 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण भी नहीं हुआ 'उपसर्गा-दसमासेऽपि णोपदेशस्य' (८।४।१४) से णत्व—प्रणीहि।

१६६. मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः ६।४।१४१—आत्मन् शब्दस्य आदेर्लोपः स्यादाङि। त्मना देवेषु।

तृतीया एकवचन की 'टा' विभक्ति को 'आङ्' कहते हैं (आङिति टा संज्ञा)। वेद में आत्मन् शब्द से तृतीया एकवचन की विभक्ति होने पर उसके आदि वर्ण 'आ' का लोप हो जाता है। जैसे—आत्मन्+टा (आ)' आत्मन् के आदि वर्ण 'आ' का लोप होने से 'त्मना'। लोक में 'आत्मना'।

विमर्श—इस सूत्र से पूर्व सूत्र है, 'आतो धातोः' (६।४।१४०)। उस सूत्र से इसमें 'आतः' की अनुवृत्ति हो जायगी और प्रस्तुत सूत्र से आलोप जो अभीष्ट है की सिद्धि हो जायगी अतः सूत्र में 'आदेः' शब्द व्यर्थ है—ऐसा नागेश जी का मत है।

वार्तिककार का कहना है कि आङ् (तृतीया एक वचन) से भिन्न स्थलों में भी आत्मन् शब्द के आदि वर्ण का लोप होता है : जैसे—'त्मन्यासमञ्जत मह्यम्'। अतः वार्तिककार की दृष्टि में सूत्र में 'आङि' शब्द व्यर्थ है।

१६७. विभाषर्जोश्छन्दसि ६।४।१६२—ऋजुशब्दस्य ऋतः स्थाने रः स्याद्वा इष्ठेमेयस्सु। त्वं रजिष्ठमनुनेषि। ऋजिष्ठं वा।

वेद में ऋजु शब्द के ऋ को र विकल्प से हो जाता है, यदि बाद में इष्ठन्, इमनिच् या ईयसुन् प्रत्यय लगे। जैसे ऋजु+इष्ठन् (इष्ठ), 'ऋ' को 'र'—रजु+इष्ठ। 'टेः' (६।४।१५५) से 'टि' (उ) का लोप—रजिष्ठः। 'र' के अभावपक्ष में केवल 'टि' (उ) का लोप—ऋजिष्ठः। इसी प्रकार ऋजु+इमनिच् = रजिमा और ऋजिमा। ऋजु+ईयसुन्=रजीयान् और ऋजीयान्। वेद में प्रयोग है—त्वं रजिष्ठमनुनेषि' (तुम सब से सीधे को मनाते हो) रजिष्ठम् (द्वितीयैकवचनान्त), पक्ष में ऋजिष्ठम्।

१६८. ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि- च्छन्दसि ६।४।१७५—ऋतौ भवमृत्व्यम्। वास्तुनि भवं

वास्त्व्यम् । वास्त्वं च । मधुशब्दस्याणि स्त्रियां यणादेशो निपात्यते । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः । हिरण्यशब्दाद् विहितस्य मयटो मशब्दस्य लोपो निपात्यते–'हिरण्ययेन सविता रथेन

वेद में ऋत्व्य, वास्त्व्य, वास्त्व, माध्वी, हिरण्यय इन पाँच शब्दों की सिद्धि निपातन से होती है।

ऋतौ भवम् ऋत्व्यम् । ऋतु शब्द से भव के अर्थ में यत् प्रत्यय, ऋतु+य, निपातन से यणादेश-ऋत्व्यम् । लोक में ऋतु + य, 'ओर्गुणः' से गुणादेश–ऋतो +य । 'वान्तो यि प्रत्यये' से ओ को अव्-ऋतव्यम् । वास्तुनि भवं वास्त्व्यम् वास्त्वम् । वास्तु शब्द से भव के अर्थ में यत्, निपातन से यणादेश–वास्त्व्यम् लोक में वास्तव्यम् । वास्तु शब्द से अण्, निपातन से यणादेश–वास्त्वम् लोक में वास्तवम् । 'माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः' (मधु से बनी मदिरा हमारे लिए ओषधि–बलवर्धक बनें) मधुनः विकारः मध्वी । मधु+अण्+ङीप्, निपातन से यणादेश–माध्वी । माध्वी + जस् (अस्) 'वा छन्दसि' (६।१।१०६) से पूर्वसवर्णदीर्घमाध्वीस्–माध्वीः । लोक में 'ओर्गुणः' से गुण और अवादेश होकर माधवी, प्रथमा बहुवचन में माधव्यः ।

हिरण्यस्य विकारः हिरण्ययः तेन हिरण्ययेन रथेन । विकारार्थ में हिरण्य शब्द से मयट् प्रत्यय, हिरण्य + मय । मयट् प्रत्यय के 'म' का निपातन से लोप हिरण्ययः । यहाँ यह अवधेय है कि 'म' का लोप होने पर 'यस्येति च' से 'हिरण्य' के अकार का लोप नहीं होगा क्यों कि उसकी कर्त्तव्यता में 'म' का लोप असिद्ध हो जायगा । अथवा हिरण्य + मय' इस स्थिति में निपातन से केवल मकार का ही लोप किया जाय–हिरण्य + अय । अब 'यस्येति च' से 'हिरण्य' के अन्तिम 'अ' का लोप कीजिए–हिरण् य् + अय = हिरण्ययः । इस प्रकार भी 'हिरण्ययः' की सिद्धि हो जाती है । लोक में हिरण्य + मय' इस स्थिति में 'दाण्डिनायन'—(६।४।१७४) से णकारोत्तरवर्ती यकार और अकार (य) का निपातन से लोप होकर 'हिरण्मयः' बनता है ।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

१६९. शीङो रुट् ७।१।६–बहुलं छन्दसि (७।१।८)–रुडागमः स्यात् । 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (७।१।४१)—इति पक्षे तलोपः । धेनवो दुह्रे । लोपाभावे–घृतं दुह्रते । अदृश्रमस्य ।

लोक में शीङ् (सोना) धातु के बाद आत्मनेपद प्रथम पुरुष बहुवचन झ् के स्थान में होने वाले 'अत्' आदेश को रुट का आगम होता है (शीङो रुट् ७।१।६); जैसे शेरते-(शी + रुट् + अते) इत्यादि । यह रुट् का आगम वेद में बहुल रूप से होता है अर्थात् शीङ् धातु से भिन्न धातुओं के बाद भी झ् के स्थान में अत् होने पर उसके रुट् का आगम हो जाता है । 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (७।१।४१) सूत्र के द्वारा वेद में आत्मनेपद के तकार का लोप भी होता है अतः रुट् होने के बाद भी 'त्' का वैकल्पिक लोप हो जाता है । यथा–धेनवो दुह्रे ।√दुह् + झ, 'आत्मनेपदेष्वनतः' से झ् को अत्–दुह् + अत । 'बहुलं छन्दसि' से रुट् का आगम-दुह् + र् + अत । 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से 'अत' के 'टि' अ को ए दुह्रते । अब 'लोपस्त आत्मने-पदेषु' के अनुसार 'त्' का वैकल्पिक लोप होने पर दुह्र ए । 'अतो गुणे' से अ + ए का पररूप (ए)-दुह्रे । त् का लोप न होने पर दुह्रते ।

अदृश्रमस्य (अदृशम् + अस्य) ।√दृश् + लुङ् (झि) । व्यत्यय से 'झि' के स्थान में उत्तमपुरुष एकवचन का मिप् को 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' से अम्, अट् का आगम–अदृश् अम् । 'बहुलं छन्दसि' से अम् के भी रुट् का आगम अदृश् र् अम्–अदृश्रम् । लोक में 'इरितो वा' से च्लि को वैकल्पिक अङ्, 'ऋदृशोऽङि गुणः' से गुण–अदर्शम् ।

१७०. अतो भिस ऐस् ७।१।९–बहुलं छन्दसि (७।१।१०)–अग्निर्देवेभिः ।

लोक में अदन्त अङ्ग के बाद 'भिस्' (तृ० ब०व०) को 'ऐस' होता है, जैसे राम + भिस्–राम + ऐस्–रामैः । किन्तु वेद में यह ऐस् बहुलरूप से

होता है—जहां होना चाहिए वहाँ नहीं होता और जहाँ नहीं होना चाहिए वहाँ हो जाता है। जैसे—अग्निर्देवेभिः। यहाँ देव शब्द से भिस् होने पर 'अतो भिस ऐस्' के अनुसार भिस् को ऐस् होना चाहिए था किन्तु नहीं हुआ। तब 'बहुवचने झल्येत्' से 'देव के 'अ' को 'ए' होकर 'देवेभिः' बन गया। नदी शब्द से भिस् को ऐस् नहीं होना चाहिए किन्तु ऐस् होता है—नद्यैः।

१७१. नेतराच्छन्दसि ७।१।२६—स्वमोरद्‌ड् न। वार्त्रघ्नमितरम्। छन्दसि किम्! इतरत्काष्ठम्।

लोक में डतर प्रत्ययान्त शब्द (जैसे कतर), डतम प्रत्ययान्त शब्द (जैसे कतम), अन्य, अन्यतर और इतर इन पाँच सर्वनाम शब्दों से नपुंसक लिङ्ग में 'सु' और 'अम्' विभक्ति को 'अद्‌ड्' आदेश होता है (अद्‌ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः ७।१।२५) किन्तु वेद में इतर शब्द से नपुंसक लिङ्ग में 'सु' और 'अम्' विभक्ति को यह अद्‌ड् आदेश नहीं होता है। जैसे—वार्त्रघ्नमितरम्। इतर शब्द से नपुंसकलिङ्ग में 'सु' विभक्ति आयी है, उसे 'अद्‌ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' के अनुसार अद्‌ड् आदेश होना चाहिए था किन्तु नहीं हुआ। तब 'अतोऽम् (७।१।२४) से सु को अम् हुआ और 'अमिपूर्वः' से पूर्वरूप होकर 'इतरम्' बना। वेद में ही ऐसा नियम है—ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि लोक में अद्‌ड् आदेश होगा ही, जैसे इतरत् काष्ठम। यहाँ इतर शब्द से 'सु' को अद्‌ड् आदेश हुआ है।

१७२. समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ७।१।३७ क्त्वापि च्छन्दसि ७।१।३८—यजमानं परिधापयित्वा।

वेद में यदि नञ् समास न हुआ हो अर्थात् पूर्वपद में नञ् (अ या अन्) न हो बल्कि कोई अन्य अव्यय पूर्वपद में हो तो क्त्वा के स्थान पर ल्यप् न होकर 'क्त्वा' भी रह सकता है अर्थात् क्त्वा को ल्यप् हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है, जब कि लोक में ऐसी स्थिति में क्त्वा को निश्चित ल्यप् हो जाता है। जैसे—यजमानं परिधापयित्वा। परि + √धा + णिच् (पुक् का आगम) + क्त्वा—परिधाप् इत्वा। 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से त्वा के इट् का आगम, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से णिच् वाले 'इ' का गुण (ए), 'ए' का अयादेश, क्त्वा को ल्यप् न होकर 'परिधापयित्वा'। लोक में 'परिधाप्य'।

क्त्वा को वेद में ल्यप् होने का उदाहरण नागेश जी ने दिया है—उद्घृत्य तान् जुहोति। यहाँ उत् + √हृ + क्त्वा, क्त्वा को ल्यप्, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से तुक्' का आगम—उद्घृत्य।

१७३. सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः ७।१।३९—ऋजवः सन्तु पन्थाः। पन्थान इति प्राप्ते सुः। परमे व्योमन्। व्योमनीति प्राप्ते ङेर्लुक्। धीती मती सुष्टुती। धीत्या मत्या सुष्टुत्येति प्राप्ते पूर्वसवर्णदीर्घः। या सुरथा रथीतमोभा देवा दिविस्पृशा अश्विना। यौ सुरथौ रथीतमौ दिविस्पृशावित्यादौ प्राप्ते आ। नताद् ब्राह्मणम्। नतमिति प्राप्ते आत्। (या देव विद्म ता त्वा। यमिति प्राप्ते।) न युष्मे वाजबन्धवः। अस्मे इन्द्राबृहस्पती। युष्मासु अस्मभ्यमिति प्राप्ते शे। उरुया। घृष्णुया। उरुणा धृष्णुनेति प्राप्ते या। नाभा पृथिव्याः। 'नाभौ' इति प्राप्ते डा। ता अनुष्ठ्योच्च्यावयतात्। अनुष्ठानमनुष्ठा। व्यवस्थावदङ्। आङो ड्या। साधुया—साध्विति प्राप्ते याच्। वसन्ता यजेत। वसन्ते इति प्राप्ते आल्।

वेद में सुप् विभक्तियों के स्थान में ये आदेश होते हैं—(१) किसी सुप् विभक्ति के स्थान में 'सु'। (२) किसी सुप् प्रत्यय का लुक। (३) अजादि सुप् विभक्ति का पूर्वसवर्णदीर्घ। (४) द्विवचन (औ, औट्) में होने वाले 'औ' के स्थान में 'आ'। (५) अम् (द्वितीया एकवचन) के स्थान पर 'आत्'। (६) सुप् (सप्तमी बहुवचन) तथा भ्यस् (च० ब० व०) के स्थान में 'शे'। (७) तृतीया एकवचन (टा) के स्थान में होने वाले 'ना' के स्थान में 'या'। (८) ङि (सप्तमी एकवचन) के स्थान में 'अच्च घेः' सूत्र से होने वाले 'औत्' (औ) के स्थान में 'डा'। (९) आङ् (तृतीया एकवचन की टा विभक्ति)

को 'ड्या'। (१०) सम्बोधन एकवचन को 'याच्'। (११) सप्तमी एकवचन के 'ए' के स्थान में आल्।

यहाँ यह अवधेय है कि सारे नियम सर्वत्र नहीं होते, अपि तु इनका उपयोग कुछ सीमित विशेष शब्दों की ही सिद्धि के लिए होता है।

उदाहरण—(१) ऋजवः सन्तु पन्थाः। स्पष्ट है कि यहाँ 'पन्थाः' के स्थान पर बहुवचनान्त 'पन्थानः' अपेक्षित है, किन्तु 'पथिन्+जस्' इस स्थिति में 'जस्' को 'सु' कर दिया गया तब 'पन्थाः' रूप हुआ।

(२) परमे व्योमन्। यहाँ व्योमन् शब्द से 'ङि' विभक्ति होकर 'व्योमनि' या 'व्योम्नि' अपेक्षित है किन्तु सुप् विभक्ति 'ङि' का लुक् होने से 'व्योमन्' प्रयुक्त हुआ है।

(३) धीती मती सुष्टुती। धीती शब्द से टा विभक्ति होने पर धीति+टा यणादेश होकर धीत्या, मति+टा=मत्या, सुष्टुति+टा=सुष्टुत्या होना चाहिए था किन्तु इ+आ को पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश (ई) होकर धीती, मती, सुष्टुती वन गया।

(४) या, सुरथा, रथीतमा, उभा, देवा, दिविस्पृशा, अश्विना। +यत् औ=यौ, सुरथ+औ=सुरथौ. रथीतम+रथीतमौ, उभ+औ = उभौ, देव+औ=दवौ, दिविस्पृश्+औ = दिविस्पृशौ, अश्विन्+औ = अश्विनौ— ऐसा होना चाहिए था किन्तु 'औ' के स्थान में 'आ' होने से यौ को या, सुरथौ को सुरथा, रथीतमौ को रथीतमा उभौ को उभा, देवौ को देवा, दिविस्पृशौ को दिविस्पृशा, अश्विनौ को अश्विना हो गया।

(५) नताद् ब्राह्मणम्। नत+अम्, अम् को आत् होकर नतात् या नताद्। यहां 'त्' की 'हलन्त्यम्' सूत्र से इत्संज्ञा नहीं होती क्योंकि 'न विभक्तौ तुस्माः' के अनुसार विभक्ति में स्थित तवर्ग, सकार और मकार की इत्संज्ञा का निषेध है। दीक्षित जी ने इसी विषय में दूसरा उदाहरण आगे दिया है—या देव विद्म ता त्वा। यहां यत्+अम्=यम् के स्थान पर अम् को 'आ' होने पर 'या' हुआ है। स्पष्ट है कि यह 'अम्' के 'आत्' होने का उदाहरण नहीं बनता है। इसे अम् के स्थान पर 'आ' होने का ही उदाहरण कहा जा सकता है या फिर लिपिकार का भ्रम कहना पड़ेगा क्योंकि दीक्षितजी का यह स्वभाव नहीं है कि वे दो उदाहरण दें। वे उदाहरण वहीं बढ़ाते हैं जहाँ उनके कई रूप होते हैं

यहाँ ऐसी बात नहीं है अतः एक ही उदाहरण पर्याप्त है, दूसरा उदाहरण व्यर्थ है—लिपिकार का दोष है।

(६) न युष्मे वाजबन्धवः। अस्मे इन्द्राबृहस्पती। युष्मद् शब्द से सप्तमी बहुवचन सुप् विभक्ति होने पर 'युष्मासु' होना चाहिए किन्तु 'युष्मद्+सु' इस स्थिति में सुप् के स्थान में 'शे' (ए) आदेश हो गया और 'शेषे लोपः' (७।२।९०) से अन्त्य' 'द्' का लोप युष्म ए—'अतो गुणे' से पररूप (अ + ए = ए) होकर 'युष्मे' बन गया।

अस्मद् शब्द से चतुर्थी बहुवचन में भ्यस् विभक्ति होने पर 'अस्मभ्यम्' होना चाहिए था किन्तु 'अस्मद्+भ्यस्' इस स्थिति में 'भ्यस्' को शे होकर पूर्ववत् 'अस्मे' बन गया।

(७) उरुया, धृष्णुया। उरु शब्द से तथा धृष्णु शब्द से तृतीया एकवचन की टा विभक्ति आने पर 'शेषो घ्यसखि' सूत्र से उकारान्त दोनों शब्दों को 'घिसंज्ञा' होने के कारण 'आङो ना स्त्रियाम्' सूत्र से 'टा' को 'ना' होकर 'उरुणा' और 'धृष्णुना' होना चाहिए था किन्तु 'टा' के स्थान में होने वाले 'ना' के स्थान में 'या' हो जाने से 'उरुया' और 'धृष्णुया' बन गया।

(८) नाभा पृथिव्याः। यहाँ नाभि शब्द से सप्तमी एकवचन में 'ङि' विभक्ति आने पर उसे 'अच्च घेः' सूत्र के अनुसार 'औ' तथा अकार अन्तादेश होकर 'नाभौ' (नाभि में) होना चाहिए था किन्तु 'ङि' के स्थान में होने वाले 'औ' के स्थान पर 'डा' (आ) हो जाने से, डित् होने के कारण 'नाभि' के टि भाग (इ) का लोप होकर 'नाभा' बन गया।

(९) ताः अनुष्ठ्योच्च्यावयतात् (उनको, अनुष्ठ्या अर्थात् ठीक गणना करके, पृथक् होने दो)। यहाँ 'अनुष्ठा' शब्द से तृतीया एकवचन टा (जिसे 'आङ्' भी कहा जाता है) होने पर 'अनुष्ठा + आ' इस स्थिति में 'आङि चापः' (७।३।१०५) से 'अनुष्ठा' के 'आ' को 'ए' तथा 'ए' को 'एचोऽयवायावः' सूत्र से 'अय्' आदेश होकर 'अनुष्ठया' होना चाहिए था किन्तु 'अनुष्ठा+टा' इस स्थिति में 'टा' के स्थान पर ड्या (या) हो गया और इसके ङित् होने के कारण 'अनुष्ठा' के टि भाग (आ) का लोप होने से 'अनुष्ठ्या' रूप बन गया। अनुष्ठा शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—अनुपूर्वक√स्था से आतश्चोपसर्गे (३।३।१०६) के अनुसार उपसर्गपूर्वक आकारान्त धातु होने से उससे 'अङ्' प्रत्यय ततः स्त्रियां टाप् होकर 'अनुष्ठा' शब्द बना है। यहाँ यह

व्युत्पत्ति हो अनियमित है क्योंकि 'आतश्चोपसर्गे' को बाधकर 'स्थागापापचो भावे (३।३।९५) के अनुसार 'क्तिन्' की ही प्राप्ति है, अङ् की नहीं। यदि कहें कि असरूप अपवाद प्रत्यय (क्तिन्), उत्सर्ग (अङ्) का विकल्प से बाधक होगा अतएव अङ् भी एक पक्ष में होगा ही, तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि कि 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' में तो स्त्री अधिकार वाले (क्तिन् आदि) प्रत्ययों के विषय में इस नियम का निषेध किया गया है। अतः यहाँ 'क्तिन्' प्रत्यय न करके 'अङ्' करने में साफ-साफ नियम का उल्लङ्घन है। इसके लिए दीक्षित जी पाणिनि का ही पल्ला पकड़ कर कहते हैं कि पाणिनि जी ने स्वयं पूर्वं परावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' (१।१।३४) सूत्र में 'व्यवस्था' शब्द का प्रयोग किया है। अतः जिस प्रकार वि + अव + √स्था से अङ् प्रत्यय होकर 'व्यवस्था' शब्द बना है उसी प्रकार अनु + √स्था से अङ् प्रत्यय होकर 'अनुष्ठा' शब्द भी बना।

(१०) साधुया। साधु शब्द से सम्बोधन एकवचन में 'सु' विभक्ति आने पर 'ह्रस्वस्य गुणः' (७।३।१०८) से 'साधु' के 'उ' को गुण (ओ) होकर 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' (६।१।६९) से 'सु' का लोप होने पर 'साधो' ऐसा रूप होना चाहिए था (मूल में 'साध्विति प्राप्ते' का भी यही अभिप्राय समझना चाहिए) किन्तु 'साधु + सु' इस स्थिति में सम्बोधन एकवचन 'सु' को 'याच्' हो जाने से (च् की 'हलन्त्यम्' सूत्र से इत्संज्ञा होकर) 'साधुया' रूप बन गया।

(११) वसन्ता यजेत। वसन्त शब्द से सप्तमी एकवचन की 'ङि' विभक्ति लगने पर 'आद्गुणः' सूत्र से गुण होकर 'वसन्ते' होना चाहिए किन्तु 'ए' को आल् (आ) होकर 'वसन्ता' बन गया।

(१) इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् (वा०)- उर्विया। दार्विया। उरुणा, दारुणेति प्राप्ते इया। सुक्षेत्रिया। सुक्षेत्रिणेति प्राप्ते डियाच्। दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्। ङेरीकार इत्याहुः। तत्राद्युदात्ते पदे प्राप्ते व्यत्ययेनान्तोदात्तता। वस्तुतस्तु ङीषन्तात् ङेर्लुक्। ईकारादेशस्य तूदाहरणान्तरं मृग्यम्।

वार्तिककार का उपर्युक्त सूत्र के विषय में कहना है कि सुप् विभक्तियों के स्थान में इया, डियाच् और ईकार ये तीन आदेश और होते हैं। उरु+टा, 'टा' को 'ना'। 'ना' के स्थान में इया—उरु+इया, 'इको यणचि' से 'उ' को यण् (व्)—उर्विया। दारु+टा, टा को इया=यण्—दार्विया। लोक में दारुणा। डियाच् का उदाहरण—सुक्षेत्रिया। सुक्षेत्रिन्+टा' टा के स्थान में डियाच् (इया) डित् होने से 'सुक्षेत्रिन्' के टि भाग (इन्) का लोप सुक्षेत्रिया। लोक मे सुक्षेत्रिन्+टा=सुक्षेत्रिणा। 'ई' का उदाहरण—सरसी। सरस्+ङि, 'ङि' के स्थान में 'ई'—सरसी। वेद में प्रयोग है—दृति न शुष्कं सरसी शयानम्। यह उदाहरण काशिका का है। 'ई' प्रत्यय होने से 'सरसी' पद आद्युदात्त होना चाहिए किन्तु 'व्यत्ययो वहुलम्' (३।१।८५) पर महाभाष्य में उद्घृत 'सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च'—श्लोक के अनुसार स्वर के व्यत्यय से अन्तोदात्त है अर्थात् आदि स्वर का उदात्त होने के वदले अन्तिम को हो गया। दीक्षित जी ऐसा पसन्द नहीं करते। उनका कहना है कि वस्तुतः सरस् शब्द से ङीप् होकर सरसी शब्द से ङि विभक्ति हुई है और उस 'ङि' का 'सुपां सुलुक्'—से लुक् हो गया है, इस प्रकार 'सरसी' ङीपन्त होने से अन्तोदात्त है। 'ई' आदेश का यह उदाहरण नहीं बनता है। उसका अन्य उदाहरण कहीं वेद में स्वयं ढूंड लें।

(२) आङ्याजयारामुपसंख्यानम् (वा०) - प्र वाहवा सिसृतम्। बाहुनेति प्राप्ते आङादेशः। 'घेर्ङिति' ७।३।१११ इति गुणः। स्वप्नया। स्वप्नेनेति प्राप्तेऽयाच्। स नः सिन्धुमिव नावया। नावेति प्राप्तेऽयार् रित्स्वरः।

वार्तिककार तृतीया एकवचन के स्थान में आङ्, अयाच् और अयार् ये तीन आदेशों की और गणना करते हैं। (१) 'बाहु+टा' इस स्थिति में लोक में 'टा' को 'ना' होकर 'वाहुना' वनेगा परन्तु वेद में 'टा' को आङ् (आ) होकर, इसके ङित् होने से 'घेर्ङिति' सूत्र से घिसंज्ञक 'बाहु' के 'उ' को गुण (ओ) तथा 'एचोऽयवायावः' से 'ओ' को अवादेश होने से 'बाहवा' बनता है। (२) स्वप्न शब्द से तृतीया एकवचन की विभक्ति 'टा' होने पर लोक में

"टाङसिङसामिनात्स्याः' से टा को इन तथा अ+इ को 'ए' गुण होकर "स्वप्नेन' होता है किन्तु वेद में 'टा' को अयाच् (अया) स्वप्न+अया। अव 'अतो गुणे' से (अ+अ=अ) पररूप होकर 'स्वप्नया' बनता है। यहाँ आपाततः यह सोचा जा सकता है कि 'अयाच्' न कर यदि 'याच्' आदेश करते तव भी तो 'स्वप्नया' की सिद्धि हो जाती किन्तु यह सोचना आपत्ति से खाली नहीं है क्यों कि याच् आदेश करने पर 'स्वप्न+या' इस स्थिति में 'सुपि च' से 'स्वप्न' के अन्त्य 'अ' को दीर्घ होने से कोई रोक नहीं सकेगा, ऐसी स्थिति में 'स्वप्नया' न वन कर 'स्वप्नाया' वनने लगेगा। (२) नौ शब्द से तृतीया एकवचन में 'विभक्ति आने पर लोक में आव् आदेश होकर 'नावा' होता है किन्तु वेद में टा को अयार् (अया) होने से नौ - अया = 'नावया' होता है। यहां 'अयार् को रित् करने का यह प्रयोजन है कि 'उपोत्तमं रिति (६।१।१९७) के अनुसार 'नावया' में अन्तिम स्वर 'आ' से पूर्व वकारोत्तरवर्ती स्वर 'व' उदात्त हो सके।

१७४. अमो मश् ७।१।४० —मिबादेशस्यामो मश् स्यात्। अकार उच्चारणार्थः शित्वात्सर्वादेशः 'अस्तिसिचः…' (७।३।९६) इति ईट्। वधीं वृत्रम्। अवधिषम् इति प्राप्ते।

लोक में ङित् लकारों (लङ्, लिङ्, लुङ् लृङ्) की मिप् विभक्ति के 'अम्' आदेश होता है (तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः'। किन्तु वेद से उस 'अम्' के स्थान पर मश् आदेश हो जाता है। 'मश्' में 'हलन्त्यम्' सूत्र से श् की तथा 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से 'अ' की इत्संज्ञा होकर केवल 'म्' शेष रहता है, जैसे— वधीं वृत्रम्। हन् धातु से लुङ् (मिप्=अम्) 'लुङि च' (२।४।४३) से हन् के स्थान में वध् आदेश—वध्+अम्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' से अट् के आगम का अभाव, प्रकृतसूत्र से अम् के स्थान में मश् आदेश, यह शित् होने के कारण पूरे 'अम्' के स्थान में होता है, उसमें केवल 'म्' रह जाता है। च्लि को सिच्, सिच् के इट् का आगम (आर्धधातुकस्येड्वलादेः), अस्तिसिचोऽपृक्ते' से म् के ईट् का आगम्—वध् + इ+स्+ई+म्। अत्र 'इट ईटि' से सिच् के स् का लोप, इ+ई=ई (अकः सवर्णे दीर्घः)—वधीम्। लोक में 'अम्' के ईट् का आगम तो प्राप्त नहीं होता और 'अट्' का आगम होता है अतः

अवघ् + इ + स् + अम् । 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार का षत्व 'अवघिषम्' होता है।

१७५. लोपस्त आत्मनेपदेषु (७।१।४१)—छन्दसि। देवा अदुह्र। अदुहतेति प्राप्ते। दक्षिणतः शये। शेते इति प्राप्ते। 'आत्मने-इति किम्? वत्सं दुहन्ति।

वेद में आत्मनेपद में 'त्' का लोप हो जाता है। जैसे अदुहत के स्थान में अदुह्र। दुह् + लङ् (झ=अत 'आत्मनेपदेष्वनतः') अट् का आगम—अ + दुह् + अत। 'शीङो रुट्—'बहुलं छन्दसि' से 'अत' के रुट् का आगम जो टित् होने से 'अत' के पूर्व बैठता है—(आद्यन्तौ टकितौ) अदुह् + र् + अत। अब 'त्' का लोप–अदुह् र् अ अ। अतो गुणे' से अ + अ = अ(पररूप)–अदुह्र। लोक में 'त्' का लोप न होने से अदुह् + र् + अत=अदुह्रत। दूसरा उदाहरण हैं—'शेते' के स्थान में 'शये'। √शी + लट् (त) 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से 'त' के टि भाग 'अ' को ए—शी + ते। 'शीङः सार्वधातुके गुणः' से 'शी' के 'ई' को गुण 'ए'—शेते। अब प्रकृतसूत्र से त् का लोप शे ए, 'शे' के ए को 'अय्' (एचोऽयवायावः)—शये। लोक में शेते। 'आत्मनेपद में ही ऐसा हो'—ऐसा क्यों? इस लिये कि परस्मैपद में 'त्' का लोप न हो, जैसे 'दुहन्ति' परस्मैपद का रूप है यहाँ त् का लोप नहीं होता है।

१७६. ध्वमो ध्वात् ७।१।४२—(ध्वमो ध्वादित्यादेशः स्याच्छन्दसि,)। अन्तरेवोष्माणं वारयध्वात्। वारयध्वमिति प्राप्ते।

वेद में मध्यमपुरुष बहुवचन की 'ध्वम्' विभक्ति के स्थान में 'ध्वात्' आदेश होता है। यथा—'अन्तरेवोष्माणं वारयध्वात्' (गर्मी को भीतर ही रोकिये)। √वृञ् + णिच्=वारि + लोट् (ध्वम्)। शप् (अ) 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से 'इ' को गुण 'ए'। ए को अयादेश (एचोऽयवायावः') वारयध्वम्, अब प्रकृतसूत्र से ध्वम् को ध्वात् वारयध्वात्। लोक में वारयध्वम् ('लोटो लङ्वत्' से लोट् को ङित् मान लेने से 'टित आत्मनेपदानां टेरे' के द्वारा 'टि' (अम्) को 'ए' नहीं होता है)।

१७७. यजध्वैनमिति च ७।१।४३—एनमित्यस्मिन् परे ध्वमोऽन्तलोपो निपात्यते। यजध्वैनं प्रियमेधाः। 'वकारस्य यकारो निपात्यते' इति वृत्तिकारोक्तिः प्रामादिकी।

वेद में 'यजध्वम्' के बाद 'एनम्' का प्रयोग रहने पर ध्वम् के म् का लोप हो जाता है; जैसे 'यजध्वैनं प्रियमेधाः' (हे यज्ञ के प्रेमियो, इसके लिए यज्ञ करो) यजध्वम्+एनम्, म् का लोप—यजध्व एनम्, अ+ए=ऐ (वृद्धिरेचि)—यजध्वैनम्। काशिकाकार ने 'काशिका' में वृत्ति दी हैं—'मकारलोपो निपात्यते वकारस्य च यकारश्छन्दसि विषये' इसके अनुसार मकार का लोप होने के साथ-साथ वकार का यकार होकर 'यजध्यैनम्' प्रयोग होगा जो बिल्कुल असंगत है। इसीलिए दीक्षित जो वृत्तिकार की उक्ति को प्रामादिक मानते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि वृत्तिकार के सम्मुख 'यजध्यैनमिति च' ऐसा सूत्र पाठ रहा होगा अन्यथा ऐसा प्रमाद कैसे संभव हो सकता है?

१७८. तस्य तात् ७।१।४४—लोटो मध्यमपुरुषबहुवचनस्य स्थाने तात्स्यात्। गात्रमस्यानूनं कृणुतात्। कृणुतेति प्राप्ते। सूर्यं चक्षुर्गमयतात्। गमयतेति प्राप्ते।

लोक में 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' के अनुसार 'थ' (मध्यम पुरुष बहुवचन) को 'स' आदेश होता है। लोटो लङ्वत् के अनुसार लोट् (लङ्वत्) ङित् लकार मान लिया जाता है अतः उसके 'थ' को भी 'त' आदेश हो जाता है इस लोट् में होने वाले 'त' को वेद में तात् आदेश हो जाता है। यह अवधेय है कि सूत्र में 'तस्य' से प्रथम पुरुष एकवचन की विभक्ति के त का ग्रहण नहीं होता है क्यों कि इस सूत्र के पूर्व और उत्तर सूत्र में बहुवचन विभक्ति का ही प्रसङ्ग है अतः उसके साहचर्य से बहुवचन के ही 'त' का ग्रहण उचित है। उदाहरण—'गात्रमस्मानूनं कृणुतात्' (इसके शरीर को अक्षीण—पुष्ट कर दो) वहाँ 'त' को 'तात्' होकर 'कृणुत के स्थान में 'कृणुतात्' हुआ है। धातु है—कृवि हिंसाकरणयोश्च। कृवि धातु में 'इ' की इत्संज्ञा होती है अतः यह 'इदित्' है। इस धातु के अर्थ हैं—हिंसा और करना। चकार से 'गति' अर्थ

भी लिया जाता है। कृव् • लोट् (थ=त), धातु के इदित् होने से 'इदितो नुम् धातोः' से नुम् का आगम जो मित् होने के कारण 'मिदचोऽन्त्यात्परः' के अनुसार धातु के अन्तिम अच् 'ऋ' के वाद बैठता है—कृ न् व् + त। अब 'धिन्विकृण्व्योर च (३।१।८०) के अनुसार 'व्' को 'अ' हुआ और शप् के विषय में 'उ' विकरण हुआ कृ न् अ उ + त। 'अतो लोपः' से 'अ' का लोप, 'ऋ' के वाद स्थित न् को ण्—कृणुत। चूँकि 'त' अपित् सार्वधातुक होने से ङित् है अतः 'उ' को 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण नहीं हो पाता है। 'त' को 'तस्य तात्' सूत्र से, (अनेक वर्ण वाला आदेश होने के कारण) समूचे 'त' को तात् हो गया—कृणुतात्। यह अवधेय है कि 'त' अपित् सार्वधातुक होने से ङित् है तो 'तात्' आदेश भी ङित् हुआ जिसके कारण तात् होने के वाद भी 'उ' को गुण नहीं हो पाता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'अतो लोपः' से 'अत्' (अ) का लोप हो जाने के वाद 'कृण् उ तात्' अथवा 'कृण् उ त' इस स्थिति में धातु (कृण्) में उपधाभूत 'ऋ' है और धातु से परे 'उ' आर्धधातुक है तो 'ऋ' को लघूपध गुण (पुगन्तलघूपधस्य च' से) क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' (१।१।५७) से अल्लोप का स्थानिवद्भाव हो जाने से उपधा 'ऋ' नहीं रहेगा अतः गुण का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। दूसरा उदाहरण—'सूर्यं चक्षुर्गमयतात्' (सूर्य की ओर आँखे जाने दो)। गम् + णिच् लोट् (थ=त)। गम् से णिच् होने पर णित्वात् 'अत उपधायाः' से गम् की उपधा 'अ' को वृद्धि 'आ'—गामि। किन्तु गम् के अन्त में 'अम्' है अतः 'जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च गणसूत्र के अनुसार 'गम्' को मित् माना जायगा अतः 'मितां ह्रस्वः' (६।४।९२) से उपधा को ह्रस्व हो जाने से गामि के स्थान पर 'गमि' हो गया—गमि + त। शप्, गुण' अयादेश—गमयत। अब 'त' को 'तात् हो जाने से गमयतात्।

१७९. तप्तनप्तनथनाश्च ७।१।४५—तस्येत्येव।

श्रृणोत ग्रावाणः। श्रृणुतेति प्राप्ते तप्। सुनोतन पचत ब्रह्मवाहसे। दधातन द्रविणं चित्रमस्मे। तनप्। मरुतस्तज्जुजुष्टन जुषध्वमिति प्राप्ते व्यत्ययेन परस्मैपदं श्लुश्च। विश्वे देवासो

मरुतो यतिष्ठन। यत्संख्याकाः स्थेत्यर्थः। यच्छब्दाच्छान्दसो डतिः। अस्तेस्तस्य थनादेशः।

वेद में उसी (लोट् लकार के मध्यमपुरुष बहुवचन) त के स्थान में तप् तनप्, तन और थन ये चार आदेश और होते हैं। यह अवधेय है कि तप् और तनप् में प् की इत्संज्ञा हो जाती है अतः पित् होने से अङित् प्रत्यय हैं इस लिए अङित् वाले सभी कार्य इनके साथ होंगे। उदाहरण–(१) शृणोत ग्रावाणः' (पत्थरो सुनो) श्रु + लोट् (थ=त) श्रुवः शृ च' से श्रु को शृ आदेश और श्नु विकरण- शृ नु त। न् को णत्व–शृणुत। अब प्रकृत सूत्र से 'त' को तप् हो गया। तप् के पित् होने से अङित् माने जाने के कारण 'क्ङिति च' गुण का निषेध नहीं कर सका और 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण हो गया—शृणोत लोक में शृणुत। (२) सुनोतन—√सु + लोट् (थ=त) 'स्वादिभ्यः श्नुः' से श्नु विकरण—सु नु त। 'त' को तनप्, और पित् होने के कारण अङित् होने से नु के उ को गुण—सुनोतन। (३) दधातन— धा + लोट् (थ= त) 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' से शप् को श्लु। 'श्लौ' से द्वित्व, 'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास के 'ध्' को द् 'ह्रस्वः' सूत्र से अभ्यास को ह्रस्व—दधात। अब 'त' को 'तनप्' आदेश—दधातन। चूँकि तनप् पित् (अर्थात् अङित्) है अतः 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (६।४।११२) से अभ्यस्त धातु के आकार का लोप नहीं हुआ, उसके लिए कित् या ङित् या सार्वधातुक प्रत्यय बाद में रहना आवश्यक है लोक में 'धत्त' होता है।

(४) जुजुष्टन—जुष् धातु आत्मनेपद है फिर भी व्यत्यय से परस्मैपद और व्यत्यय से ही 'श्लु' भी हुआ जिसके कारण 'श्लौ' से द्वित्व और अभ्यास कार्य भी हुए—जुजुष् त। अब 'त' को 'तन' आदेश, 'ष्टुनाष्टुः' से त को ट– जुजुष्टन। तन अपित् अतएव ङित् है अतः लघूपधगुण नहीं हुआ। लोक में जुषध्वम्।

(५) विश्वे देवासो मरुतो यतिष्ठन—यत्संख्याकाः स्थेत्यर्थः (हे विश्वे-देव और मरुतो, तुम लोग जितने हो) यहाँ यति + स्थन=यतिष्ठन 'सुषामादिषु च' (८।३।९८) से स् को ष्। यद् शब्द से छान्दस डति (अति) प्रत्यय, डित्त्वात् 'टि' (अद्) का लोप होकर 'यति' बनता है। अस् + लोट् (थ=त) 'श्नसोरल्लोपः' से 'अस्' के 'अ' का लोप—स्त। अब 'त' को 'थन' आदेश करने पर 'स्थन'। लोक में 'स्त'।

१८०. इदन्तो मसि ७।१।४६—मसीत्यविभक्तिको निर्देशः। इकार उच्चारणार्थः। 'मस्' इत्ययमिकाररूपचरमावयवविशिष्टः स्यात्। मस इगागमः स्यादिति यावत्। नमो भरन्त एमसि। त्वमस्माकं तव स्मसि। इमः, स्मः, इति प्राप्ते।

सूत्र में 'मसि' इस शब्द का प्रयोग विना कोई विभक्ति लगाये हुआ है, इसमें इकार केवल उच्चारण की सुविधा के लिए लगाया गया है, तात्पर्य केवल मस् से है। सूत्र का अर्थ है—उत्तमपुरुष बहुवचन में प्रयुक्त होने वाला 'मस्' प्रत्यय वेद में इदन्त होता है अर्थात् वह अन्त में इकार लिये रहता है जो उसी का चरम अवयव—अन्तिम अङ्ग समझा जाता है। दूसरे शब्दों में यों कहे कि वेद में 'मस्' के इक् का आगम हो जाता है जो कित् होने से मस् के बाद स्थान लेता है। उदाहरण—नमो भरन्तः एमसि (नमस्कार करते हुए हम आते हैं) आङ्पूर्वक इ (गतौ) धातु से लट् (मस्)—आ + √इ + मस्, मस् का अन्तावयव इकार हो जाने से तथा आ + इ = ए (गुण) हो जाने से 'एमसि' बना। लोक में 'इ' धातु से मस्—'इमः'। अस् + मस् (= मसि) मस् के अपित् अतएव ङित् होने के कारण 'श्नसोरल्लोपः' सूत्र से 'अस्' के 'अ' का लोप होने से—'स्मसि'। लोक में 'स्मः' त्वमस्माकं तव स्मसि (तुम हमारे, हम तुम्हारे हैं)।

१८१. क्त्वो यक् ७।१।४७—दिवं सुपर्णो गत्वाय।

१८२. इष्ट्वीनमिति च ७।१।४८—क्त्वाप्रत्ययस्य ईनमन्तादेशो निपात्यते। इष्ट्वीनं देवान्। इष्ट्वा इति प्राप्ते।

वेद में क्त्वा प्रत्यय के यक् का आगम होता है जो कित् होने से क्त्वा के बाद स्थान लेता है (आद्यन्तौ टकितौ)। जैसे-गम् + क्त्वा + यक् ('अनुदात्तोपदेश'—६।४।३७) से अनुनासिक 'म्' का लोप—गत्वाय। लोक में गत्वा।

वेद में निपातन से कहीं-कहीं क्त्वा प्रत्यय के ईनम् अन्तादेश कर देते हैं। जैसे—यज् + क्त्वा, ईनम् अन्तादेश—यज् + त्वीनम्, 'वचिस्वपियजादीनां किति' ६।१।१५ से सम्प्रसारण और 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप (इ + अ =

इ)—इज् + त्वीनम्, 'व्रश्चभ्रस्जसृज०' से ज को ष्, 'ष्टुना ष्टुः' से त् को ट् इष्ट्वीनम् । लोक में इष्ट्वा ।

१८३. स्नात्व्यादयश्च ७ । १ । ४९—आदिशब्दः प्रकारार्थः । आकारस्य ईकारो निपात्यते । स्विन्नः स्नात्वी । मलादिव । पीत्वी सोमस्य वावृधे । स्नात्वा पीत्वा इति प्राप्ते ।

वेद में 'स्नात्वी' शब्द की तरह के अन्य शब्द भी निपातन से सिद्ध होते हैं । आदि शब्द प्रकार वाची है । जैसे 'स्नात्वा' में अन्तिम 'आ' को निपातन से 'ई' करके 'स्नात्वी' बना लेते हैं, वैसे ही अन्य क्त्वान्त शब्दों के भी अन्तिम 'आ' को 'ई' करके ईकारान्त रूप सिद्ध होता है, जैसे—√स्ना + क्त्वा= स्नात्वा । 'स्नात्वा' से वेद में 'स्नात्वी' ।√पा (पीना) + क्त्वा =पीत्वा । 'पीत्वा' से वेद में 'पीत्वी' । लोक में स्नात्वा, पीत्वा ।

१८४. आज्जसेरसुक् ७।१।५०—अवर्णादङ्गात्परस्य जसोऽसुक् स्यात् । देवासः ब्राह्मणासः ।

वेद में अकारान्त अङ्ग के बाद जस् (प्रथमा बहुवचन की) विभक्ति के असुक् का आगम होता है । असुक् में 'उ' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से तथा 'क्' की 'हलन्त्यम्' सूत्र से इत्संज्ञा हो जाती है, अतः कित् होने से 'आद्यन्तौटकितौ' के अनुसार यह असुक् 'जस्' के बाद स्थान लेता है । जैसे—देव शब्द से जस् 'विभक्ति आने पर देव + अस् । अब असुक् आगम होने पर देव + अस् अस् । 'अकः सवर्णे दीर्घः' से देवासस् अन्तिम स् को रुत्वविसर्ग—देवासः । इसी प्रकार ब्राह्मण + अस् + असुक् (अस्)—ब्राह्मणास् ब्राह्मणासः ।

१८५. श्रीग्रामण्योश्छन्दसि ७।१।५६—आमो नुट् । श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम् । सूतग्रामणीनाम् ।

लोक में 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (७।१।५४) के द्वारा ह्रस्वान्त शब्द, नदी संज्ञक (ईकारान्त ऊकारान्त नित्यस्त्रीलिङ्ग) शब्द तथा आबन्त शब्द के बाद

लगने वाली आम् (षष्ठी व० व०) विभक्ति के नुट् का आगम होता है किन्तु श्री शब्द जो इयङ्योग्य है, को आम् विभक्ति लगने पर 'वामि' (१।४।५) सूत्र से विकल्प से नदीसंज्ञा होने के कारण नुट् का आगम भी नदी संज्ञा के पक्ष में ही होता है अतएव 'श्रीणाम्' और (नदीसंज्ञा के अभाव में इयङ्) श्रियाम् ये दो रूप होते हैं और 'ग्रामणी' शब्द तो सर्वथा 'नुट्' के क्षेत्र से बाहर ही है। वेद में श्री और ग्रामणी शब्द से आम् विभक्ति लगने पर आम् के नुट् का आगम होता हैं अर्थात् लोक में श्री शब्द से आम् आने पर जहाँ उसके विकल्प से नुट् होता है वहाँ वेद में नित्य नुट् का आगम होता है और ग्रामणी-शब्द से आम् आने पर लोक में जहाँ नुट् की प्राप्ति ही नहीं होती तब 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' (६।४।८२) से यण् होकर 'ग्रामण्याम्' रूप होता है वहाँ वेद में नुट् का आगम होकर 'ग्रामणीनाम्' रूप बनता है। श्री + आम् आम् को नुट् का आगम जो टित् होने से 'आद्यन्तौ' के अनुसार आन् के आदि में बैठता है—श्री न् आम्, 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' और 'अट् कुप्वाङ् नुम् व्यवायेऽपि' से न् को ण्—श्रीणाम्। ग्रामणी+न्+आम्—ग्रामणीनाम्। सूताश्च ग्रामण्यश्च ऐसा इतरेतर योग द्वन्द्व समास होने पर सूतग्रामणी शब्द से आम् होने पर नुट् का आगम—सूतग्रामणीनाम्।

विमर्श—जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि लोक में श्री शब्द से आम् विभक्ति आने पर 'वामि' सूत्र से श्री शब्द की विकल्प से नदी संज्ञा होने पर 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से ही आम् के नुट् का आगम हो जायगा और 'श्रीणाम्' पद बन जायगा अतः नागेश जी इस सूत्र को व्यर्थ मानते हैं किन्तु अन्य लोग कहते हैं कि जब नदीसंज्ञा नहीं होगी तब वहाँ भी नुट् का आगम करने के लिये यह सूत्र है अर्थात् इस सूत्र में श्री शब्द को नदीसंज्ञक नहीं माना गया हैं। काशिकाकार का कहना है कि 'सूताश्च ते ग्रामण्यश्च' ऐसा विग्रह करके जब सूतग्रामण्यः शब्द होगा और सूतग्रामणी शब्द से आम् विभक्ति आयेगी, उसी के लिये यह सूत्र है तब 'सूतग्रामणीनाम्' सिद्ध होगा।

१८६. गोः पादान्ते ७।१।५७—विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम्। पादान्ते किम्! गवां शता पृक्षयामेषु।

पादान्तेऽपि क्वचिन्न । छन्दसि सर्वेषां वैकल्पिकत्वात् । विराजं गोपतिं गवाम् ।

ऋक् पादान्त में वर्तमान गो शब्द से परे आम् को नुट् का आगम होता है । जैसे 'विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम्' में 'गो' शब्द से परे आम् विभक्ति आने पर पादान्त में स्थित होने के कारण आम् के नुट् का आगम होकर 'गोनाम्' हुआ है । यदि पाद के अन्त में स्थित नहीं है तो आम् के नुट् का आगम नहीं होगा जैसे 'गवां शता पृक्षयामेषु' में 'गवाम्' पाद के आदि में है अतः यहाँ आम् के नुट् का आगम नहीं हुआ है । गो + आम् = गवाम् (एचोऽयवायावः) । कहीं कहीं पाद के अन्त में स्थित होने पर भी नुट् का आगम नहीं देखा जाता, क्योंकि वेद में सभी विधान वैकल्पिक होते हैं । जैसे–विराजं 'गोपतिं गवाम्' । यहाँ 'गवाम्' पाद के अन्त में है, फिर भी 'आम्' के नुट् का आगम नहीं हुआ है ।

१८७. छन्दस्यपि दृश्यते ७।१।७६—अस्थ्यादीनामनङ् । इन्द्रो दधीचो अस्थभिः ।

१८८. ई च द्विवचने ७।१।७७—अस्थ्यादीनामित्येव । अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्याम् ।

पूर्वसूत्र है—'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' (७।१।७५) इसके अनुसार अस्थि, दधि, सक्थि, अक्षि इन शब्दों के अनङ् आदेश होता है 'टा' आदि अजादिविभक्ति यदि पर में हो । इस प्रकार लोक में अस्थ्ना, दध्ना इत्यादि रूप बनते हैं; किन्तु वेद में इन शब्दों को, किसी भी प्रत्यय (चाहे वह अजादि हो या हलादि)—के पर में होने पर अनङ् आदेश होता है । 'छन्दसि च' कहना ही काफी था किन्तु 'अपि दृश्यते' लगाने का अभिप्राय है कि ऊपर के सूत्र की सभी उपाधियाँ व्यभिचरित हों—अजादि प्रत्यय के, और हलादि प्रत्यय के भी पर में रहने पर अस्थि आदि शब्दों के अनङ् आदेश हो । अतः हलादि विभक्ति भिस् पर में होने पर भी अस्थि शब्द को अनङ् आदेश हुआ है । यह अनङ् ङित् है अतः 'ङिच्च' सूत्र से अन्तिम वर्ण 'इ' को ही हुआ—अस्थन् भिस् । अब 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से न का लोप होने पर—

अस्थभिः । वेद में प्रयोग है—इन्द्रो दधीचो अस्थभिः । सूत्र में 'अपि दृश्यते' के कहने का यह भी अभिप्राय है कि विभक्ति पर में रहने पर अनङ् हो ऐसा जो कहा गया है, वह विभक्ति से भिन्न दूसरे प्रत्यय के पर में होने पर भी हो; जैसे 'अस्थन्वन्तं यदनस्था विभर्ति ।' यहाँ अस्थि शब्द से मतुप् प्रत्यय है जो विभक्ति नहीं है फिर भी अस्थि शब्द के अनङ् हो गया—अस्थन्+मत् अब 'अनो नुट्' (८।१।१६) से अस्थन् के बाद में स्थित मतुप् के नुट् का आगम हो गया—अस्थन् न् मत् । अनङ् के नकार का 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से लोप—अस्थन् मत् । 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' से मतुप् के म् को व्—अस्थन्वत्, द्वितीया एकवचन में अस्थन्वत् + अम् =अस्थन्वन्तम् ('उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' से नुम् होकर) ।

अस्थि आदि शब्दों को द्विवचन में ई आदेश होता है । जैसे अक्षि + भ्याम्, ई आदेश होकर अक्षीभ्याम् । यह अवधेय है कि यह ई आदेश अनङ् का अपवाद है अतः अनङ् होकर अक्षभ्याम् नहीं होता है ।

१८९. दृक्स्ववस्स्वतवसां छन्दसि ७।१।८३—एषां नुम् स्यात्सौ । कीदृङिङन्द्रः । स्ववान् । स्वतवान् ।

वेद में 'दृश्' से अन्त होने वाले शब्दों तथा स्ववस् शब्द और स्वतवस् शब्द को नुम् का आगम होता है यदि बाद में सु (प्रथमा एकवचन) विभक्ति हो । जैसे—किम् + √दृश् + क्विन्, क्विन् का सर्वापहारी लोप, 'इदं किमोरीश्की' (६।३।९०) से 'किम्' को 'की' आदेश—कीदृश् । 'कीदृश् + सु' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से की दृश् के नुम् का आगम हुआ जो 'मिदचोऽन्त्यात्परः' सूत्र के अनुसार उसके अन्तिम अच् 'ऋ' के बाद स्थित हुआ—की दृ + न् + श् + सु । 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' से 'सु' का लोप, 'संयोगान्तस्य लोपः' से श् का लोप—कीदृन् । 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से न् का कुत्व ङ्—कीदृङ् । 'कीदृङ् + इन्द्रः' इस स्थिति में 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' से 'इन्द्रः' के 'इ' के ङमुट् (ङुट्) का आगम हुआ जो टित् होने से उसके आदि में बैठा—की दृङ्ङिन्द्र । स्ववान्—√अव् + असुन् =अवस् । सुष्ठु अवः यस्य सः स्ववान् । स्ववस् शब्द से प्रथमा एकवचन की 'सु' विभक्ति लगने पर प्रकृत सूत्र से 'स्ववस्' शब्द के नुम् का आगम हुआ—स्व व न् स् + सु । 'सान्तमहतः संयोगस्य (६।४।१०) से नकार के उपधा (पूर्व वर्ण)

वकारोत्तरवर्ती 'अ' को दीर्घ—स्ववान् स् + सु । 'हल्ङ्याब्भ्यः—' से 'सु' का लोप, 'संयोगान्तस्य लोपः' से स् का लोप—स्ववान् ।

स्वतवान्—तु धातु सूत्र में ही प्रयुक्त (सौत्र) है, इसका प्रयोग लोक में नहीं होता, यह वृद्धयर्थक है ।√तु + असुन्=तवस् । स्वं तवः (वृद्धिः) यस्य सः स्वतवान् । स्वतवस् + सु, नुमागम=स्वतवन् स् + सु । 'सान्तमहतः संयोगस्य' से न् की उपधा (वकारोत्तरवर्ती अ) को दीर्घ—स्वतवान् स् + सु । 'हल्ङ्याब्भ्यः—' से सु का लोप, 'संयोगान्तस्य लोपः' से स् का लोप—स्वतवान् । स्ववान् और स्वतवान्–जैसे प्रयोगों में न् का 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से लोप नहीं होता क्योंकि सकार का जो लोप हुआ है वह असिद्ध हो जायगा ।

१९०. उदोष्ठ्यपूर्वस्य ७।१।१०२—बहुलं छन्दसि (७।१।१०३)—ततुरिः । जगुरिः पराचैः ।

सूत्र है—'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (७।१।१०२) । इसके अनुसार किसी धातु के अन्त में 'ॠ' हो किन्तु 'ॠ' के पहले कोई ओष्ठ्य (पवर्ग) वर्ण हो तब उस 'ॠ' को ह्रस्व 'उ' आदेश होता है, चूँकि वह 'उ' ॠ के स्थान पर हो रहा है अतः 'उरणरपरः' के अनुसार रपर (अर्थात् उर् के रूप में) होता है। वेद में यह ॠ के स्थान में होने वाला 'उ' (ह्रस्व) आदेश बहुल रूप से होता है—ॠ के पूर्व ओष्ठ्य वर्ण नहीं हो तब भी ॠ को उकार हो जाता है। जैसे—ततुरिः, जगुरिः । ततुरिः—तॄ धातु से 'आदृगमहनजनः–किकिनौ लिट् च' (३।२।१७१) सूत्र के द्वारा किन् प्रत्यय हुआ और वह लिड्वत् भी हुआ। किन् में केवल 'इ' बचता है, ककार की 'लशक्वतद्धिते' सूत्र से और 'न्' की 'हलन्त्यम्' सूत्र से इत्संज्ञा हो जाती है । लिड्वत् होने से लिट् लकार की तरह यहां भी तॄ को 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' से द्वित्व—तॄ + तॄ + इ । 'उरत्' सूत्र से अभ्यास के ॠ को 'अ' और उसे 'उरणरपरः' से रपरत्व—तर् तॄ + इ । 'हलादिः शेषः' से र् (हल्) का लोप—त तॄ + इ । अब प्रकृत सूत्र से ॠ को 'उ' और उसका 'उरण्रपरः' से रपरत्व—त त् उर् + इ=ततुरिः । यहाँ यह अवधेय है कि ॠ के पूर्व ओष्ठ्य वर्ण नहीं, दन्त्य (त्) वर्ण है फिर भी उसे 'उ' हो गया । इसी प्रकार गॄ धातु से किन् और उसके लिड्वत् होने से लिट् की तरह कार्य होने पर—ग + गॄ + इ । 'कुहोश्चुः' से ग् को ज्—जगॄ + इ । प्रकृत सूत्र से ॠ को 'उ' और 'उ' को रपरत्व—जगुरिः । किन् में

न् की इत्संज्ञा (अर्थात् नित्) होने से 'ततुरिः' और 'जगुरिः' ये आद्युदात्त होते हैं (ञ्नित्यादिर्नित्यम्)।

१९१. ह्रु ह्वरेश्छन्दसि ७।२।३१–ह्वरेर्निष्ठायां ह्रु-आदेशः स्यात्। अह्रुतमसि हविर्धानम्।

१९२. अपरिह्वृताश्च ७।२।३२–पूर्वेण प्राप्तस्यादेशस्याभावो निपात्यते। अपरिह्वृताः सनुयाम वाजम्।

१९३. सोमे ह्वरितः ७।२।३३–इड्गुणौ निपात्येते। मा नः सोमो ह्वरितः।

ह्वृ धातु (कुटिल होना) भ्वादिगणीय है जो अनिट् है। इससे निष्ठा (क्त और क्तवतु) प्रत्यय होने पर इसको 'ह्रु' आदेश होता है, वेद में। जैसे–अह्रुतम्। लोक में अह्वृतम्। न ह्रुतमिति अह्रुतम्। ह्वृ+क्त; ह्वृ को ह्रु आदेश–ह्रुतम्।

कहीं-कहीं यह आदेश निपातन से नहीं होता; जैसे–अपरिह्वृताः। न परिह्वृताः इति अपरिह्वृताः। परि+ह्वृ+क्त, निपातन से ह्रु आदेश का अभाव। बहुवचनान्त ही प्रयोग वेद में देखा जाता है अत एव सूत्र में 'अपरिह्वृताः' ऐसा बहुवचनान्त का ही निर्देश किया गया है।

सोम के विषय में इस ह्वृ धातु से 'ह्वरितः' बनता है। √ह्वृ+क्त, इट् और गुण निपातन से होते हैं। ऋ को गुण (अ) रपर होते हुए होता है (उरण् रपरः) ह्वर् इत–ह्वरितः।

१९४. ग्रसितस्कभितस्तभितोत्तभितचत्तविकस्ताविशस्तृशंस्तृशास्तृतरुतृतरूतृवरुतृवरूतृवरुत्रीरुज्ज्वलितिक्षरितिवमित्यमितीति च ७।२।३४–अष्टादश निपात्यन्ते। तत्र 'ग्रसु स्कम्भु स्तम्भु' एषामुदित्त्वान्निष्ठायामिट्प्रतिषेधे प्राप्ते इट् निपात्यते। युवं शचीभिर्ग्रसिताममुञ्चतम्। विष्कभिते अजरे। येन स्वः स्तभितम्। सत्येनोत्तभिता भूमिः। स्तभितेत्येव सिद्धे उत्पूर्वस्य पुनर्निपातनमन्योपसर्गपूर्वस्य मा भूदिति।

'चते' याचने, 'कस' गतौ। आभ्यां क्तस्य इडभावः। चत्तो इतश्चत्तामुतः। त्रिधा ह श्यावमश्विना विकस्तम्। उत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम्। निपातनं बहुत्वापेक्षं सूत्रे बहुवचनं 'विकस्ता' इति। तेनैकवचनान्तोऽपि प्रयोगः साधुरेव। 'शसु' 'शंसु' 'शासु'—एभ्यस्तृच इडभावः। एकस्त्वष्टुरश्वस्या-विशस्ता। ग्रावग्राभ उत शंस्ता। प्रशास्ता पोता। तरतेर्वृङ्-वृञोश्च तृच उट् ऊट् एतावागमौ निपात्येते। तरुतारं रथानाम्। तरूतारम्। वरुतारम्—वरूतारम्। वरूत्रीभिः सुशरणो नो अस्तु। अत्र ङीबन्तनिपातनं प्रपञ्चार्थम्। वरूतृशब्दो हि निपातितः। ततो ङीपा गतार्थत्वात्।

उज्ज्वलादिभ्यश्चतुर्भ्यः शप इकारादेशो निपात्यते। 'ज्वल' 'दीप्तौ', 'क्षर संचलने', 'टुवम् उद्गिरणे'। 'अम गत्यादिषु'। इह क्षरितीत्यस्यानन्तरं क्षमितीत्यपि केचित्पठन्ति। तत्र 'क्षमूष् सहने' इति धातुर्बोध्यः। भाषायां तु ग्रस्त-स्कब्ध-स्तब्धोत्तब्धचतित-विकसिताः। विशसिता। शंसिता। शासिता। तरीता-तरिता। वरीता-वरिता। उज्ज्वलति, क्षरति। पाठान्तरे—क्षमति (? क्षमते)। वमति, अमति।

वेद में निम्न लिखित अठारह शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं :—

(१) ग्रसु अदने धातु से 'ग्रसित', (२) रोधनार्थक सौत्र धातु स्कम्भु से 'स्कभित', (३) स्तम्भु से 'स्तभित', (४) उद्+स्तम्भु से 'उत्तभित'। इन चारों में क्त प्रत्यय लगा है। ये धातुएँ उदित् हैं अर्थात् उपदेश काल में उकारान्त हैं उस उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत् संज्ञा

हुई है अतः 'उदितो वा' सूत्र से इन धातुओं से क्त्वा प्रत्यय होने पर तो विकल्प से इट् होता है किन्तु निष्ठा (क्त और क्तवतु) होने पर 'यस्य विभाषा' सूत्र से इट् का निषेध हो जाता है। किन्तु वेद में बहुल विधि के कारण निपातन से इनमें हो गया है। √ग्रस् + इट् + क्त = ग्रसितः। ग्रसित + टाप् (स्त्रियाम्) + अम् (द्वितीयैकवचन) = ग्रसिताम्। वेद में प्रयोग है—युवं शचीभिर्ग्रसितामञ्चुतम्। √स्कम्भ् + इट् + क्त, 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' से नुम् (म्) का लोप—स्कभितः। वि + स्कभिते = विष्कभिते ('वेः स्कभ्नातेर्नित्यम्' (८।३।७७) से स् को षत्व) विष्कभिते + अजिरे 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (६।१।१५) से प्रकृति भाव। √ स्तम्भ् + इट् + क्त, नुम् (म्) का लोप = स्तभितम्। वेद में प्रयोग है—येन स्वः स्तभितम्। उद् + स्तभित = उत्तभित। 'उदःस्थास्तम्भोः पूर्वस्य' से 'आदेःपरस्य' के अनुसार स् को द् का सवर्णी थ्—उद् थ् तभित। 'झरो झरि सवर्णे' से थ् का लोप, 'खरि च' से द् को चर् (त्)—उत्तभित। उत्तभित + टाप् (स्त्रियाम्)—उत्तभिता। वेद में प्रयोग है—सत्येनोत्तभिता भूमिः (सत्य से पृथ्वी ऊँची उठी है)। 'स्तभित' से ही उत्तभित सिद्ध हो जाता है, फिर उत्तभित को निपातन से क्यों सिद्ध किया गया ? इसलिए कि स्तभित शब्द का प्रयोग केवल उद् के साथ ही देखा जाता है अतः उत्पूर्वक स्तभित का पुनः निपातन करने से अन्य उपसर्गों के साथ स्तभित का निपातन न हो। लोक में क्रमशः ग्रस्त, स्कब्ध, स्तब्ध और उत्तब्ध होगा।

(५) √चत् (माँगना) से क्त प्रत्यय होकर 'चत्त' और (६) √कस् (जाना) से क्त प्रत्यय होकर। विकस्त। 'चत् + क्त' और 'वि + कस् + क्त' यहाँ 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से क्त के इट् का आगम होना चाहिए किन्तु निपातन से इट् का अभाव हुआ। वेद में प्रयोग है—'चत्तो इतश्चत्तामुतः' (यहाँ माँगा, वहाँ माँगा)। वि + √कस् + क्त = विकस्तम्। सूत्र में 'विकस्ताः' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग सभी क्त प्रत्ययान्त निपातित शब्दों के समाहार के लिए हुआ है, इससे यह न समझें कि 'विकस्ताः' ऐसा निपातन बहुवचन में ही होता है, एकवचन में भी 'विकस्तः' प्रयोग ठीक ही है। लोक में 'चतितः' 'विकसितः' होंगे।

(७) वि + √शस् + तृच् = विशस्तृ (विशस्ता प्रथमा एकवचन में)। वि + √शसु (हिंसायाम्) + तृच् यहाँ तृच् के 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से

इट् का आगम प्राप्त था किन्तु निपातन से उसका निषेध हो गया। वेद में प्रयोग है—एकस्त्वष्टुरश्वस्याविशस्ता (एक त्वष्टा के घोड़े का हिंसक है) अश्वस्य + विशस्ता = अश्वस्याविशस्ता ('अन्येषामपि दृश्यते' सूत्र से पूर्वपद को दीर्घ)।

(८) √शंसु + तृच् = शंस्तृ (शंस्ता प्रथमा एकवचन में) यहाँ भी निपातन से इट् का निषेध। लोक में √शसु + तृच् = शसिता। √शंसु + तृच् = शंसिता होता है।

(९) √शास् + तृच् = शास्ता। प्र + √शास् + तृच् = प्रशास्ता। निपातन से इट् का निषेध। लोक में शासिता।

(१०) और (११) तॄ (प्लवनतरणयोः) धातु से तृच् प्रत्यय होने पर इट् न होकर उसके स्थान में उट् और ऊट् का आगम निपातन से हुआ—तॄ + उट् + तृच्, तॄ + ऊट् + तृच्। 'ॠ' को गुण, रपर (अर्) तरुतृ—तरुता (द्वितीया में तरुतारम्) तरूतृ—तरूता (द्वितीया में तरूतारम्)।

(१२) और (१३)—वृङ् संभक्तौ (क्र्यादि) या वृञ् (स्वादि) से तृच् प्रत्यय, इट् के स्थान में उट् और ऊट् का आगम वृ + उ + तृच्, वृ + ऊ + तृच्, गुण तथा उसको रपरत्व—वरुता—वरूता (द्वितीया में वरुतारम् और वरूतारम्)। लोक में 'तॄ' से तरिता और तरीता। 'वॄ' से वरिता और वरीता। ('वॄतो वा' से दीर्घ)।

(१४) वरूत्री—निपातन से वरूतृ शब्द सिद्ध किया जा चुका है उसी से 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से ङीप् होकर 'वरूत्री' सिद्ध होता है। इस प्रकार इसकी सिद्धि हो जाती है, पृथक् निर्देश केवल विस्तार प्रदर्शन के लिए है। लोक में वरित्री, वरीत्री।

(१५) से (१८) उज्ज्वलिति, क्षरिति, वमिति, अमिति। क्रम से उद् + √ज्वल दीप्तौ, √क्षर (संचलने) (पाठा०) √क्षमूष् (सहने), √टुवम् (उद्गिरणे) √अम् (गत्यादिषु) धातु से शप् के स्थान में निपातन से 'इ' आदेश करके उज्ज्वलति के स्थान में 'उज्ज्वलिति' 'क्षरति' के स्थान में 'क्षरिति'। क्षरिति के बाद कुछ लोग 'क्षमिति' ऐसा भी पढ़ते हैं जो काशिका से भी अनुमोदित है, इस पाठान्तर में क्षम् धातु से शप् के स्थान में 'इ' आदेश करके क्षमिति रूप बनेगा। यह तभी बनेगा जब व्यत्यय से 'क्षम्' धातु को,

परस्मैपदी मानेंगे अन्यथा 'क्षमते' से 'क्षमिति' नहीं बन पायेगा। यह अवधेय है कि क्षम् धातु आत्मनेपदी है। अम् धातु से शप् को निपातन से 'इ' करने से 'अमति' के स्थान में 'अमिति' हुआ है। वमति से शप् को इ–वमिति।

(क) बभूथाऽऽततन्थ जगृम्भववर्थेति निगमे (सू० सं० ७।२।६४)–विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ। येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ। जगृम्भा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तम्। त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ। भाषायां तु बभूविथ, आतेनिथ, जगृहिम, ववरिथेति।

यह सूत्र सिद्धान्तकौमुदी के स्वादिप्रकरण में आ चुका है, फिर भी इसका सम्बन्ध वैदिक प्रकरण से होने के कारण इसे पुनः उद्धृत किया गया। वेद में बभूथ, आ ततन्थ, जगृम्भ और ववर्थ ये चार क्रियापद निपातन से सिद्ध होते हैं—लोक में जहाँ इन पदों में इट् होता हैं वेद में वहीं निपातन से इट् का अभाव कर देते हैं।

(१) विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ। आ+√भू+लिट् (थल्) द्वित्व, 'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास के भ् को ब्, 'ह्रस्वः' से अभ्यास के ऊ को ह्रस्व (उ), 'भवतेरः' से उस ह्रस्व 'उ' को अ—आबभूथ (निपातन से इट् का आगम नहीं हुआ)। लोक में 'भुवो वुक् लुङ्लिटोः' से वुक् का आगम तथा 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से आर्धधातुक थल् को इट् का आगम होकर 'आबभूविथ' होगा।

(२) येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ। आ+√तन्+लिट् (थल्) द्वित्व, अभ्यास कार्य—आततन्थ=आततन्थ। लोक में थल् को इट् होकर 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' से अभ्यास का लोप और अकार को ए कार होकर 'आतेनिथ' होता है।

(३) जगृम्भाते दक्षिणमिन्द्र हस्तम्। √ग्रह्+लिटि (मस्=म), द्वित्व, अभ्यासकार्य, जग्रह्+म 'ग्रहिज्या'०—(६।१।१६) से 'र्' को सम्प्रसारण 'ऋ' सम्प्रारणाच्च' से ऋ+अ=ऋ (पूर्वरूप) जगृह्+म, हृग्रहोर्भश्छन्दसि वार्तिक से ह् को भ, व्यत्यय म के स्थान पर म और

म् के स्थान पर भ, अच् का व्यत्यय अर्थात् अन्तिम 'अ' के स्थान पर दीर्घ 'आ'—जगृम्भा। स्थान व्यत्यय न मानने पर जगृम्मा। लोक में इट् होकर जगृहिम।

(४) त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ। √वृं+लिट् (सिप्=थल्), द्वित्व, 'उरत्' से 'ऋ' को अर् (रपर होने से)—वर् वृ थ, 'हलादिः शेषः' से व वृथ 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से 'ऋ' को गुण (अर्, रपर होकर)—ववर्थ। लोक में 'ववृथ' इस स्थिति में 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से इट् और ऋ को गुण होने से ववरिथ।

१९५. सनिंससनिवांसम् ७।२।६९–सनिमित्येतत्पर्वात्सनतेः सनोतेर्वा क्वसोरिट् एत्वाभ्यासलोपाभावश्च निपात्यते। (अग्निस्त्वाऽग्ने सनिंससनिवांसम्)।

वेद में 'सनिं ससनिवांसम्' की सिद्धि निपातन से होती है। सनिं+√ सन् (भ्वादि या स्वादि)+क्वसु (वस्), यह क्वसु 'लिट्' के स्थान पर होता है अतः द्वित्व, अभ्यास कार्य आदि—सनि स सन् वस्, यहां 'नेड्वशिकृति' (७।२।८) के अनुसार वस् के इट् आगम का निषेध है किन्तु निपातन से इट् किया गया। 'अत एक हल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' सूत्र से प्राप्त एत्व और अभ्यास लोप का निपातन से अभाव–सनिं ससनिवस्। द्वितीया एकवचन की अम् विभक्ति लगने पर 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' से नुम्—सनिं ससनि व न् स्+अम्। 'सान्तमहतः संयोगस्य' से नकार की उपधा (अ) को दीर्घ–सनि स सनि वा न् स्+अम्=सनिंससनिवांसम्। 'सनिम्' पूर्वपद में न रहने पर अथवा लोक में 'अत एक हल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' से एत्व और अभ्यास लोप तथा 'नेड्वशिकृति' से इट् का निषेध–सेन्वस्। सेन्वस्+अम्=सेन्वांसम्।

(क) पावकादीनां छन्दसि प्रत्ययस्थात्कादित्वं नेति वाच्यम् (वा०)—हिरण्यवर्णाः शुचयः पावकाः।

'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' (७।३।४४) के अनुसार प्रत्यय में स्थित 'क' के पूर्व अकार को इकार हो जाता है, यदि क् के बाद आप् प्रत्यय

हो (जैसे कारकः से कारिका)। इस पर वार्तिककार का कहना है कि पावक आदि शब्दों में आप् प्रत्यय लगने पर प्रत्ययस्थ 'क' के पूर्व अकार को इकार नहीं होता है, वेद में। जैसे—'हिरण्यवर्णाः शुचयः पावकाः'। यहां सभी शब्द 'आपः' के विशेषण होने से स्त्रीलिङ्ग वहुवचनान्त हैं। पुनन्ति पावयन्ति वा पावकाः, ण्वुल्, टाप—पावका, वहुवचन में पावकाः। यहाँ 'क' के बाद आप् प्रत्यय होने से क पूर्व 'अ' को 'इ' होकर 'पाविकाः' नहीं हुआ, पावकाः हुआ।

१९६. घोर्लोपो लेटि वा ७।३।७०—दधद्रत्नानि दाशुषे। सोमो ददद् गन्धर्वाय। यदग्निरग्नये ददात्।

'डुदाञ् दाने' और 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातु को 'घु' कहते हैं (दाधाघ्वदाप्)। लेट् लकार में इनके अन्तिम वर्ण (आ) का विकल्प से लोप होता है। जैसे 'दधद्रत्नानि दाशुषे' में दधत् का प्रयोग। √धा + लेट् (तिप्), जुहोत्यादि होने के कारण श्लु, 'श्लौ' से द्वित्व, अभ्यास कार्य, ह्रस्व,—दधा + ति प्रकृत सूत्र से 'आ' का लोप, दध् + ति। 'लेटोऽडाटौ' से 'ति' के अट् का आगम—दध् अ + ति। 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' से लेट् की तिङ् विभक्ति 'ति' के इकार का लोप—दध् अ + त् = दधत्। ठीक इसी प्रकार—'सोमो ददद् गन्धर्वाय' में प्रयुक्त 'ददत्' पद की सिद्धि होती है। 'आ' का लोप न होने पर दधात् और ददात् होता है। चाहें तो दधात् और ददात् को भी 'आ' के लोप का भी उदाहरण मान सकते हैं। 'आ' का लोप कर देने के वाद 'लेटोऽडाटौ' से तिप् के अट् का आगम न करके आट् का आगम कर दें तो भी दधात् और ददात् ही वनेगा।

१९७. मीनातेर्निगमे ७।३।८१—शिति ह्रस्वः। प्रमिणन्ति व्रतानि। लोके—प्रमीणन्ति।

वेद में √मीञ् (हिंसाकरना, क्र्यादि) के दीर्घ ई को ह्रस्व हो जाता है शिति प्रत्यय के परे होने पर। प्र + √मी + लट् (झि = अन्ति), 'क्र्यादिभ्यः श्ना' से श्ना विकरण, जिसके श् की 'लशक्वतद्धिते' सूत्र से इत्संज्ञा हो जाती है वह शित् कहलाता है। 'प्र + मी + ना + अन्ति' इस स्थिति में 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से श्ना के 'आ' का लोप—प्रमी न् + अन्ति। प्रकृत सूत्र

से 'मी' के 'ई' को ह्रस्व—प्रमि न् + अन्ति। 'हिनुमीना' (८।४।१५) से न् को णत्व—प्रमिणन्ति। लोक में 'मी' को ह्रस्व न होने से 'प्रमीणन्ति' होता है।

१९८. अस्तिसिचोऽपृक्ते ७।३।९६—बहुलं छन्दसि ७।३।९७—सर्वमा इदम्। आसीदिति प्राप्ते। (अस्तेर्लङ् तिप्। ईडभावः, अपृक्तत्वाद् हल्ङ्यादिलोपः। रुत्वविसर्गौ। संहितायां तु 'भो भगो–' इति यत्वम्। 'लोपः शाकल्यस्य' इति यलोपः। गोभिरक्षाः। सिच इडभावश्छान्दसः। अट्। शेषं पूर्ववत्)।

सूत्र है—'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (७।३।९६)। इसके अनुसार विद्यमान सिच् और अस् धातु के वाद अपृक्त हल् को ईट् का आगम होता है। अपृक्त उस प्रत्यय को कहते हैं जो केवल एक अक्षर का होता है (अपृक्त एकाल् प्रत्ययः)। वेद में यह ईट् का आगम विकल्प से होता है। जैसे—'सर्वमा इदम्' (सर्वम्+आः+इदम्) यहाँ ईट् का आगम न होने से 'आसीत्' के स्थान में 'आः' हुआ है। √अस् + लङ् (तिप्), आडजादीनाम्' से आट् का आगम, 'आटश्च' से वृद्धि (आ+अ=आ), आस्ति। अदादिगण की धातु होने से 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से शप् का लुक्। 'इतश्च' सूत्र से इकार का लोप—आस्त्। अब प्रकृत सूत्र (वहुलं छन्दसि) के अनुसार ईट् का आगम वैकल्पिक होने से नहीं हुआ। तव 'हल्ङ्याब्भ्यः—' से त् का लोप और स् का रुत्व विसर्ग होकर 'आः' बना। संहिता में 'सर्वम्+आस्+इदम्' इस स्थिति में 'ससजुषो रुः' सूत्र से स् को रु तथा 'भोभगोअघोऽपूर्वस्य योऽशि' सूत्र से रु को य् और 'लोपः शाकल्यस्य' से य् का लोप होकर 'सर्वमा इदम्' ऐसा हो गया है।

दूसरा उदाहरण है—गोभिरक्षाः (गोभिः+अक्षाः)। यह उदाहरण सिद्धान्तकौमुदी के प्राचीन संस्करणों में नहीं मिलता है अतएव सुबोधिनीकार तथा नागेश जी की ओर से किसी प्रकार का कोई निर्देश नहीं दिया गया है। काशिका में यह उदाहरण मिलता है किन्तु काशिकाकार ने भी इसके लौकिक-रूप के निर्देश का कष्ट नहीं किया है जब कि 'आः' के लिए वे 'आसीदिति

प्राप्ते' ऐसा स्पष्ट निर्देश करते हैं। 'अक्षाः' के लिए केवल 'सिच इडभावः' इतना ही निर्देश उन्होंने किया है। कौमुदी के आधुनिक संस्करणों में सिच् सम्बन्धी उदाहरण दर्शाने के लिए आधुनिक विद्वान् सम्पादकों द्वारा 'गोभिरक्षाः' (काशिका वाला) उदाहरण उद्धृत कर दिया गया और इतना ही निर्देश किया गया है—'सिच इडभावश्छान्दसः। अट्। शेषं पूर्ववत्।' उन लोगों ने भी 'अक्षाः' का लौकिक रूप निर्दिष्ट नहीं किया है। जो कुछ निर्देश किया गया है उससे इतना ही संकेत मिलता है कि इस उदाहरण में प्रयुक्त धातु के बाद स्थित सिच् के इट् का आगम प्राप्त होता है (चाहे धातु के सेट् होने के कारण अथवा अनिट् होने पर किसी सूत्र-विशेष के द्वारा)। उस प्राप्त इट् का अभाव वैदिक प्रकरण होने के कारण कर दिया जाता है। दूसरा संकेत मिलता है कि प्रयुक्त धातु हलादि है तभी उसके अट् का आगम होता है। ऐसी स्थिति में आधुनिक व्याख्याकार उक्त दोनों निर्देशों की संगति बैठाने के आग्रह में कैसी-कैसी संभावित उपहासास्पद तरकीवें 'अक्षाः' की सिद्धि के के लिए अपनायी हैं, जैसे—√क्षि + लुङ् (सिप्)—अट् + क्षि + सिच् + सिप्। 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से वृद्धि (क्षि को क्षै), प्रस्तुत 'बहुलं छन्दसि' सूत्र से सिप् के ईडागम का अभाव=अक्षैस् स्, अन्तिम स् का हल्ङ्यादिलोप, सिच् के होने वाले इडागम का भी वैदिक प्रकरण होने के कारण अभाव हो गया (इडभावश्छान्दसः) अक्षैस् इट् न होने पर भी उसे स्थित मान कर 'क्षै' को 'एचोऽयवायावः' से 'क्षाय्' कर दिया—अक्षाय् स्। 'लोपोव्योर्वलि' से य् का लोप तथा स् का रुत्व-विसर्ग करके 'अक्षाः' रूप बना।"[1]

यहां 'क्षि' धातु मानने पर (चाहे वह भ्वादि गणीय २३६ हो, चाहे स्वादिगणीय १२७६ हो, अथवा तुदादि गणीय १४०७ हो) उसके अनिट् होने के कारण सिच् के इट् का आगम प्राप्त ही नहीं है और न कोई सूत्र विशेष भी ऐसा है जो स्थिति विशेष में इट् का विधान कर रहा हो, तब जो (इट्) प्राप्त ही नहीं, उसके अभाव का छान्दस विधान कैसे उचित है? 'क्षि' को 'क्षै' बनाने के बाद उसके 'ऐ' को 'एचोऽयवायावः' से 'आय्' करने के लिए, इट्

१. चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी से प्रकाशित हिन्दीव्याख्योपेता 'वैदिकी प्रक्रिया' (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ १२५।

जो आया ही नहीं—, की उपस्थिति मान लेना व्याकरण शास्त्र के कहाँ तक अनुकूल है ?

मेरे विचार से 'क्षै' (क्षये) ९१३ धातु से 'अक्षाः' की सिद्धि अधिक समीचीन लगती है—क्षै + लुङ् (तिप्), अडागम, च्लि तथा च्लि को सिच्– अक्षै + स् + त्, 'आदेच उपदेशेऽशिति' से धातु के 'ऐ' को 'आ'–अक्षास् त्, 'वहुलं छन्दसि' प्रकृत सूत्र से तिप् के ईडागम का अभाव, 'यमरमनमातां सक् च' (७।२।७३) के अनुसार धातु को सक् का आगम और सिच् को इट् आगम प्राप्त होता है जिसका छान्दस अभाव कर दिया गया। धातु के सक् का आगम कर भी दें तो उसका 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (८।२।२९) से लोप हो जाने के कारण कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। त् का हल्ङ्यादिलोप और स् का रुत्व-विसर्ग होकर—अक्षाः। तिप् के स्थान पर सिप् मानने पर भी उसका हल्ङ्यादिलोप होकर 'अक्षाः' यही रूप होगा।

'गोभिरक्षाः' के स्थान पर 'गोभिरचाः' पाठान्तर कुछ लोग मानते हैं उस स्थिति में 'चायृ पूजानिशमनयोः' धातु से 'अचाः' पद की सिद्धि होगी। अचाय् स् त्–ईडागम का अभाव (वहुलं छन्दसि), 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' सूत्र से सिच् को प्राप्त इडागम का छान्दस अभाव, 'लोपो व्योर्वलि' से 'य्' का लोप, त् का हल्ङ्यादि लोप, स् का रुत्व-विसर्ग होकर–अचाः, लोक में अचायीत्।

(क) ह्रस्वस्य गुणः ७।३।१०८। जसि च ७।३।१०९– जसादिषु छन्दसि वा वचनं प्राङ् णौ चङ्युपधायाः (वा०)—अधा शतक्रत्वो यूयम्। शतक्रतवः पशवे नृभ्यो यथा गवे। पशवे।

लोक में 'ह्रस्वस्य गुणः' सूत्र के अनुसार ह्रस्वान्त अङ्ग के गुण हो जाता है, यदि सम्बुद्धि (सम्बोधन के एकवचन की विभक्ति) पर में हो। जैसे–हे हरे। 'जसि च' सूत्र के अनुसार पर में जस् विभक्ति रहने पर ह्रस्वान्त अङ्ग के गुण हो जाता है–जैसे–हरि + जस्—हरे + अस्—हरयस्–हरयः। इस पर वार्तिककार का वचन है–जसादिषु छन्दसि वा वचनं प्राङ् णौ चङ्युपधायाः

इस वचन का आशय यह है कि षष्ठ अध्याय में 'वा छन्दसि' (६।१।१०६) सूत्र जो 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।१०२) सूत्र द्वारा होने वाले पूर्वसवर्ण दीर्घ को वैकल्पिक करने के लिए पढ़ा गया है उसका अधिकार 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१) सूत्र तक माना जाना चाहिए। इसका फल यह होता है कि उक्त सूत्र के अधिकारक्षेत्र के अन्दर पड़ने वाले सूत्रों द्वारा जो जो विधान होते हैं वे सभी वेद में वैकल्पिक हो जाते हैं। यतः 'जसि च' (७।३।१०९) सूत्र भी उक्त सूत्र के अधिकारक्षेत्र के अन्दर पड़ता है अतः इसके द्वारा किया गया गुण-विधान भी वेद में वैकल्पिक होता है। जैसे—अधा शतक्रत्वो यूयम्। शतक्रतवः। शतक्रतु शब्द से जस् विभक्ति होने पर गुण के अभाव में यण् (इको यणचि से) होने पर 'शतक्रत्वः' पद बनता है और गुणपक्ष में गुण होने पर शतक्रतो+अस् अवादेश सकार को रुत्वविसर्ग होकर 'शतक्रतवः' पद बनता है। गुणाभाव पक्ष में यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि जब गुण नहीं होगा तब 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होना चाहिए। 'वा छन्दसि' इस वचन से यहाँ 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' की भी प्रवृत्ति नहीं होगी अतएव यणादेश ही होता है। लौकिक संस्कृत में 'शतक्रतवः' ही होता है।

पश्वे। पशवे—पशु शब्द से चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में 'ङे' विभक्ति आने पर पशु+ए इस स्थिति में 'घेर्ङिति' (७।३।१११) सूत्र से होने वाला गुण 'वा छन्दसि' सूत्र के अधिकार क्षेत्र में पड़ने से वेद में वैकल्पिक हो गया। गुण के अभाव पक्ष में यण् होकर 'पश्वे' बनता है और गुण होने पर पशो+ए=पशवे ('एचोऽयवायावः' सूत्र से अवादेश होकर) बनता है जब कि लौकिक संस्कृत में केवल 'पशवे' होता है।

(ख) नाभ्यस्तस्याचि ७।३।८७—इति निषेधे बहुलं छन्दसीति वक्तव्यम् (वा०)। आनुषग्जुजोषत्।

लोक में सूत्र है—'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके'। अभ्यस्तसंज्ञक अङ्ग से परे अजादि पित् सार्वधातुक के रहने पर उसकी उपधा में स्थित लघु वर्ण को गुण नहीं होता है। इस निषेध सूत्र पर वार्तिककार का वचन है—

'बहुलं छन्दसीति वक्तव्यम्'। अर्थात् उक्त गुणनिषेध वेद में वैकल्पिक है। यथा जुजोषत्। जुषी प्रीतिसेवनयोः धातु से वेद में लेट् लकार, व्यत्यय से परस्मैपद होने पर प्रथमपुरुष एकवचन में तिप्—जुष्+ति। व्यत्यय से 'श' विकरण के स्थान पर श्लु, 'श्लौ' सूत्र से द्वित्व कार्य, 'लेटोऽडाटौ' सूत्र से लेट् (तिप्) को अट् का आगम, 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' सूत्र से तिप् के इकार का लोप जु जुष्+अत् इस स्थिति में 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' सूत्र से गुण-निषेध होना चाहिए था किन्तु 'बहुलं छन्दसि' इस वचन से गुणनिषेध नहीं हुआ अर्थात् 'पुगन्तलघूपधस्य च' सूत्र से गुण हो गया—जुजोषत्।

२९९. नित्यं छन्दसि ७।४।८—छन्दसि विषये (णौ) चङ्युपधाया ऋवर्णस्य ऋन्नित्यम्। अवीवृधत्।

ऐसी धातुएँ जिनकी उपधा में ऋवर्ण (ह्रस्व अथवा दीर्घ) रहता है उनसे णिच् होने पर लुङ्लकार में 'च्लि' को चङ् (अ) जब हो जाता है तब यथास्थिति धातु के उपधागत ऋवर्ण को इर्, अर् अथवा आर् की प्राप्ति होती है। जैसे—कॄत् संशब्दने धातु के 'अचीकृतत्' में इर् की प्राप्ति, पृथ प्रक्षेपे धातु के 'अपीपृथत्' में अर् की प्राप्ति तथा मृजूष् शुद्धौ धातु के 'अमीमृजत्' में 'मृजेर्वृद्धिः' सूत्र से आर् की प्राप्ति होती है ऐसी स्थिति में 'उर्ऋत् (७।४।७) सूत्र णिच् से परे चङ् होने पर उपधागत ऋवर्ण के स्थान पर विकल्प से ऋत् अर्थात् ह्रस्व ऋकार का विधान करता है जिसका फल यह होता है कि उक्त धातुओं के अचीकृतत्—अचिकीर्तत्, अपीपृथत्—अपपर्थत् तथा अमीमृजत्—अममार्जत् इत्यादि दो-दो रूप होते हैं। उर्ऋत् (७।४।७) सूत्र के अनन्तर ही 'नित्यं छन्दसि' (७।४।८) सूत्र आता है जो उपर्युक्त 'उर्ऋत्' के वैकल्पिक विधान को वेद के विषय में वैकल्पिक नहीं, नित्य करता है अतः वेद में वृधु वृद्धौ धातु से केवल अवीवृधत्' एक ही रूप होता है जब कि लोक में अवीवृधत्-अववर्धत् ये दो रूप होते हैं।

अवीवृधत्—वृध्+णिच्+चङ्+सिप् (लुङ् प्रथम पुरुष एकवचन) 'णेरनिटि' सूत्र से णिच् का लोप होने पर 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' सूत्र से तदाश्रित प्राप्त गुणकार्य को बाधित कर नित्यं छन्दसि' सूत्र उपधागत ऋवर्ण

के स्थान पर नित्य ह्रस्व ऋकार का विधान कर देता है। 'चङि' सूत्र से द्वित्व, हलादिशेष, अट् का आगम—अ + वृ वृध् + अ + त् (इकारलोप), 'उरत्' तथा 'उरण् रपरः' से अभ्यास ऋ के स्थान पर अर् तथा 'हलादिः शेषः' से रेफ की निवृत्ति, 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' सूत्र से सन्वद्भाव होने पर 'सन्यतः' सूत्र से इकारोत्तरवर्ती अकार को इकार—अविवृध् अत्। 'दीर्घो-लघोः' से दीर्घ होने पर—अवीवृधत्।

२००. न छन्दस्यपुत्रस्य ७।४।३५—पुत्रभिन्नस्यादन्तस्य क्यचि ईत्वदीर्घौ न। मित्रयुः। क्याच्छन्दसि (३।२।१७०)- इति उः। अपुत्रस्य किम्? पुत्रीयन्तः सुदानवः। (क) अपुत्रादीनामिति वाच्यम् (वा०)। जनीयन्तोऽन्वग्रवः। जन-मिच्छन्त इत्यर्थः।

कोक में अकारान्त शब्द से 'सुप आत्मनः क्यच्' (३।१।८) सूत्र से क्यच् (य) प्रत्यय होने पर 'अनचि च' (७।४।३३) सूत्र से अकार को ईकार हो जाता है, जैसे—आत्मनः पुत्रमिच्छति-पुत्रीयति। वेद में पुत्र शब्द को छोड़कर अन्य ह्रस्व अकारान्त शब्द से क्यच् प्रत्यय होने पर यह ईत्वविधान निषिद्ध है। यही नहीं, यदि आप ईत्वविधान के अभाव में 'अकृत्सार्वधातुकयोः' सूत्र से दीर्घ करना चाहें तो वह भी नहीं कर सकते, उसका भी निषेध है। कहने का आशय यह है कि प्रकृतिभूत शब्द में किसी प्रकार का भी परिवर्तन नहीं होता है, उसका अपने मूलरूप में बना रहना ही अभीष्ट है। आत्मनः मित्र-मिच्छतीति मित्रयति मित्रयतीति मित्रयुः। मित्र शब्द से क्यच् (य) प्रत्यय होने पर न ईत्व हुआ और न दीर्घ ही। मित्रय को 'सनाद्यन्ता धातवः' सूत्र से धातुसंज्ञा होने पर कर्ता में ताच्छील्य अर्थ में 'मित्रय' धातु से 'क्याच्छ-न्दसि' (३।२।१७०) सूत्र से वेद में 'उ' प्रत्यय हुआ। यकारोत्तरवर्ती अकार का 'अतो लोपः' सूत्र से लोप होकर 'मित्रयुः' पद निष्पन्न होता है।

सूत्र में 'अपुत्रस्य' ऐसा पार्युदास होने से पुत्र शब्द से क्यच् प्रत्यय होने पर उक्त निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती है अर्थात् 'क्यचि च' सूत्र से अकार को ईकार हो जाता है। आत्मनः पुत्रमिच्छन्तीति पुत्रीयन्ति पुत्रीयन्तीति पुत्री-

यन्तः, 'पुत्रीय' को 'सनाद्यन्ता धातवः' सूत्र से धातुसंज्ञा होने पर लट्लकार शप्, लट् के 'शतृ' आदेश, 'अतो गुणे' से पररूप पुत्रीय + अत् इस स्थिति में 'अतो गुणे' सूत्र से पुनः पररूप, पुत्रीयत् शब्द से प्रथमा वहुवचन में जस् विभक्ति, 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' सूत्र से नुम् का आगम होने पर 'पुत्रीयन्तः' पद बनता है।

वेद में 'जनीयन्तः' पदप्रयोग भी देखा जाता है अतः वार्तिककार उक्त सूत्र में 'अपुत्रस्य' के स्थान में 'अपुत्रादीनाम्' कहना समीचीन मानते हैं, अन्यथा जन शब्द से क्यच् प्रत्यय होने पर उक्त सूत्र से ईत्व निषेध हो जायगा जो अभीष्ट नहीं है। 'अपुत्रादि' कहने से आदि पद से जन शब्द का भी ग्रहण हो जायगा और ईत्व का निषेध उक्त सूत्र नहीं कर सकेगा। जनमात्मन इच्छन्ति जनीयन्ति, जनीयन्तीति जनीयन्तः।

२०१. दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति ७।४।३६— एते क्यचि निपात्यन्ते। भाषायां तु उप्रत्ययाभावात्—दुष्टीयति, द्रविणीयति, वृषीयति, रिष्टीयति।

वेद में निम्नलिखित शब्द निपातन से क्यच् प्रत्यय में सिद्ध होते हैं :—

(१) दुरस्युः—दुष्टमात्मन इच्छति तच्छीलः दुरस्युः—दुष्ट शब्द से क्यच् प्रत्यय होने पर निपातन से दुष्टशब्द का दुरस् भाव। 'क्याच्छन्दसि' सूत्र से ताच्छील्य अर्थ में उ प्रत्यय।

(२) द्रविणस्युः—द्रविणमात्मन इच्छति तच्छीलः द्रविणस्युः। द्रविण शब्द से क्यच् प्रत्यय होने पर निपातन से द्रविण शब्द का द्रविणस् भाव। तदनन्तर उ प्रत्यय। भाषा में उ प्रत्यय तो होता नहीं, अतः दुष्ट शब्द और द्रविण शब्द के अकार को 'क्यचि च' सूत्र से ईत्वभाव होकर दुष्टीयति और द्रविणीयति होगा। हाँ, यदि कृत्प्रत्यय करने का ही आग्रह हो तो वैदिक उ प्रत्यय का समानार्थक तृन् प्रत्यय लगाकर दुष्टीयिता और द्रविणीयिता बना सकते हैं।

(३) वृषण्यति—वृषमात्मन इच्छतीति वृषण्यति। वृष शब्द से क्यच् होने पर निपातन से वृष शब्द का वृषण् भाव। भाषा में ईत्व होकर वृषी-

यति। रिषण्यति—रिष्टमात्मन इच्छतीति रिषण्यति। रिष्ट शब्द से क्यच्। निपातन से रिष्ट शब्द का रिषण्भाव। भाषा में रिष्टीयति होगा।

२०२. अश्वाघस्यात् ७।४।३७—अश्व अघ इत्येतयोः क्यचि आत् स्याच्छन्दसि। अश्वायन्तो मघवन्। मात्वा वृका अघायवः। न च्छन्दसि (२००) इति निषेधो नेत्त्वमात्रस्य किन्तु दीर्घस्यापीति। अत्रेदमेव ज्ञापकम्।

अश्व और अघ शब्द से क्यच् प्रत्यय होने पर वेद में आकार आदेश होता है। अश्वायन्तः—अश्वमात्मन इच्छन्तीति अश्वायन्तः—अश्वशब्द से क्यच् प्रत्यय होने पर 'अश्वाघस्यात्' सूत्र से आकार आदेश 'अश्वाय' को 'सनाद्यन्ता धातवः' सूत्र से धातुसंज्ञा होने पर लट् 'कर्तरि शप्' से शप्, 'अतो गुणे' सूत्र से पररूप लट् को शतृ आदेश—अश्वाय अत्। 'अतो गुणे' सूत्र से पुनः पररूप—अश्वायत्। प्रथमाबहुवचन में जस् विभक्ति आने पर 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' सूत्र से नुम् का आगम—अश्वायन्तः।

अघायवः—अघमात्मन इच्छन्ति तच्छीलाः अघायवः। अघ् शब्द से क्यच् 'अश्वाघस्यात्' सूत्र से आकार आदेश 'अघाय' को धातुसंज्ञा होकर 'क्याच्छन्दसि' सूत्र से 'उ' प्रत्यय। 'अतो लोपः' सूत्र से यकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होकर 'अघायु' प्रातिपदिक से प्रथमाबहुवचन में जस् विभक्ति होने पर 'अघायवः' पद बनता है। ऊपर 'न छन्दस्यपुत्रस्य' सूत्र में 'क्यचि च' सूत्र से होने वाले ईत्वभाव और 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' सूत्र से होने वाले दीर्घ आदेश दोनों का निषेध किया गया मानना चाहिए। यह बात हमे इसी 'अश्वाघस्यात्' सूत्र से मालूम होती है, अन्यथा यहाँ 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' सूत्र से ही दीर्घ होने से काम चल जाता 'अश्वाघस्यात्' सूत्र व्यर्थ हो जाता। इस सूत्र की सार्थकता के लिए यह आवश्यक है कि 'न छन्दस्यपुत्रस्य' सूत्र में ईत्व और दीर्घ दोनों का निषेध माना जाय जिससे 'न छन्दस्यपुत्रस्य' सूत्र के अपवाद रूप में 'अश्वाघस्यात्' सूत्र सार्थक हो सके।

२०३. देवसुम्नयोर्यजुषि काठके ७।४।३८—अनयोः क्यचि आत् स्याद् यजुषि कठशाखायाम्। इह यजुःशब्दो न

मन्त्रमात्रपरः, किन्तु वेदोपलक्षकः। तेन ऋगात्मकेऽपि मन्त्रे यजुर्वेदस्थे भवति। किं च ऋग्वेदेऽपि भवति, स चेन्मन्त्रो यजुषि कठशाखायां दृष्टः। यजुषीति किम्? देवाञ्जिगाति सुम्नयुः (ऋ० ।३।२७।१)। बह्वृचानामप्यस्ति कठशाखा, ततो भवति प्रत्युदाहरणमिति हरदत्तः।

देव और सुम्न शब्द से क्यच् प्रत्यय होने पर यजुर्वेद की कठ शाखा में आकार आदेश होता है।

देवायन्तः—आत्मनो देवमिच्छन्तीति देवायन्ति। देवायन्तीति देवायन्तः। देव शब्द से क्यच् होने पर 'देवसुम्नयोर्यजुषि काठके' सूत्र से आकार–देवाय को 'सनाद्यन्ता धातवः' सूत्र से धातुसंज्ञा होने पर लट्, 'कर्तरि शप्' से शप् होने पर 'अतो गुणे' सूत्र से पररूप लट् की शतृ आदेश–देवाय + अत्। पुनः 'अतो गुणे' सूत्र से पररूप अश्वायत् प्रातिपादिक से प्रथमाबहुवचन में जस् विभक्ति आने पर 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' सूत्र से नुम् का आगम, सकार को रुत्व-विसर्ग होकर–देवायन्तः पद निष्पन्न होता है। इसी प्रकार सुम्नशब्द से क्यच् प्रत्यय होने पर लट् के 'शतृ' आदेश होने पर 'सुम्नायन्तः पद की सिद्धि होती है। यह अवधेय है कि यहाँ यजुः शब्द केवल यजुर्वेद के मन्त्रों का ही द्योतक नहीं है, अपि तु पूरे वेदमात्र का बोधक है। अतः ऋग्वेद से लिए गये जो मन्त्र यजुर्वेद में हैं उनमें भी यह नियम लागू होता है तथा ऋग्वेद में भी उन मन्त्रों मे यह नियम प्राप्त होता है जो यजुर्वेद की कठशाखा में दृष्टिगोचर होते हैं।

यजुषीति किम्? अर्थात् यजुर्वेद का प्रयोग क्यों किया? इस लिए कि अन्यत्र अकारादेश न हो। जैसे—'सुम्नयुः' में सुम्न शब्द से क्यच् होने पर अकारादेश नहीं हुआ है, क्यच् होने के वाद 'क्याच्छन्दसि' सूत्र से 'उ' प्रत्यय होकर 'सुम्नयुः' पद बना। हरदत्त जी का कहना है कि बह्वृचों (ऋग्वेदियों) की भी कठशाखा है उसमें से 'सुम्नयुः' यह प्रत्युदाहरण लिया गया है। अनेक आचार्य हरदत्त जी के इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि 'यजुषीति किम्' का अभिप्राय है 'यजुषि काठक इति किम्? कठशाखा

केवल यजुर्वेद की है। कठशाखा से भिन्न शाखा वाले यजुर्वेद में भी आकार आदेश नहीं होता है। 'सुम्नयुः' प्रत्युदाहरण ऋग्वेद की शाकल शाखा का है, कठशाखा का नहीं।

२०४. कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः ७।४।३९—(कवि अध्वर पृतना) एषामन्त्यस्य लोपः स्यात् क्यचि ऋग्विषये। सुपूर्व्या निविदा कव्यतायोः (ऋ० १।९६।२)। अध्वर्युं वा मधुपाणिम् (ऋ० १०।४१।३)। दमयन्तं पृतन्युम्।

ऋग्वेद में कवि, अध्वर और पृतना शब्दों के बाद क्यच् प्रत्यय लगने पर उनके अन्तिम वर्ण का लोप हो जाता है।

कव्यत—आत्मनः कविमिच्छत कव्यत। कवि शब्द से क्यच् प्रत्यय होने पर कवि शब्द के अन्तिम वर्ण का लोप—कव्य को 'सनाद्यन्ता धातवः' सूत्र से धातुसंज्ञा होकर लोट् मध्यमपुरुष बहुवचन में थ विभक्ति 'कर्तरि शप्' सूत्र से शप् (अ) कव्य + अ + थ 'अतो गुणे' सूत्र से पररूप होने पर—कव्यथ। 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' सूत्र से 'थ' को 'त' आदेश—कव्यत। कव्यत + आयोः = कव्यतायोः।

अध्वर्युम्—आत्मनोऽध्वरमिच्छति तच्छीलः अध्वर्युः, तम्। अध्वर शब्द से क्यच् होने पर अन्तिम वर्ण अकार का लोप—अध्वर्य। 'सनाद्यन्ता धातवः' सूत्र से धातुसंज्ञा होने पर 'क्याच्छन्दसि' सूत्र से 'उ' प्रत्यय—अध्वर्यु। द्वितीया विभक्ति के एक वचन में—अध्वर्युम्। यहाँ यह अवधेय है कि मृगय्वादिगण में भी अध्वर्यु शब्द का पाठ है किन्तु उसकी व्युत्पत्ति इससे भिन्न है।

पृतन्युम्—आत्मनः पृतनामिच्छति तच्छीलः पृतन्युः, तम्। पृतना शब्द से क्यच् प्रत्यय होने पर अन्तिम वर्ण आकार का लोप—पृतन्य को धातुसंज्ञा होकर ताच्छील्य अर्थ में 'क्याच्छन्दसि' सूत्र से 'उ प्रत्यय'। 'अतो लोपः' सूत्र से यकारोत्तरवर्ती अकार का लोप—पृतन्यु। द्वितीया विभक्ति के एक वचन में 'पृतन्युम्'।

२०५. दधातेर्हिः ७।४।४२—जहातेश्च क्त्वि (७।४।

४३) विभाषा छन्दसि (७।४।४४) हित्वा शरीरम् । हात्वा वा (हीत्वेत्यपि पाठः) ।

लोक में धा धातु के 'हि' आदेश होता है, यदि तकारादि कित् प्रत्यय परे हो तथा 'ओहाक् (हा) त्यागे धातु को 'हि' आदेश होता है, पर में क्त्वा प्रत्यय होने पर । वेद में ये दोनों वैकल्पिक हैं । हा + क्त्वा = हित्वा (हि धादेश) पक्षे हात्वा—छान्दसत्वात् 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' से ईत्व का अभाव । हीत्वा ऐसा भी पाठ मिलता है, वहाँ 'घुमास्था' से ईत्व हुआ समझा जाय ।

२०६. सुधित-वसुधित-नेमधित-धिष्वधिषीय च ७।४।४५—सु, वसु, नेम, एतत्पूर्वस्य दधातेः क्तप्रत्यये इत्वं निपात्यते । गर्भं मातर सुधितं वक्षणासु । वसुधितमग्नौ । नेमधिता न पौंस्या । क्तिन्यपि दृश्यते उत श्वेतं वसुधितिं निरेके । धिष्व वज्रं दक्षिण इन्द्र हस्ते । धत्स्वेति प्राप्ते । सुरेता रेतो धिषीय । आशीर्लिङ् इट् । 'इटोऽत्' (३।४।१०६) धासीय इति प्राप्ते ।

वेद में सुधित, वसुधित, नेमधित, धिष्व और धिषीय इन पाँच शब्दों की सिद्धि पाणिनि जी निपातन से करते हैं । सु, वसु, अथवा नेम (आधा) शब्द पूर्व में रहने पर धा धातु के आकार को निपातन से इकार हो जाता है यदि पर में क्त प्रत्यय हो । धिष्व और धिषीय में भी ऐसा ही (धा के 'आ' को 'इ') होता है । सु + धा + क्त (धा को इ होने से) सुधितम् । इसी प्रकार वसु + धा + क्त = वसुधितम् । नेम + धा + क्त = नेमधितम् । लोक में 'धा' को 'दधातेर्हिः' से 'हि' आदेश होने 'से सुहितम्, वसुहितम्, नेमहितम्' होगा । यहाँ यह अवधेय है कि 'वसुहितम्' में वसु (धनं) च तद् हितं च' ऐसा विग्रह कर हरदत्त जी कर्मधारय समास मानते हैं, किन्तु सायण ने अपने भाष्य में इसकी व्याख्या की है—'वसूनां धातारं प्रदातारमित्यर्थः इति । इससे सायण का मत ऐसा प्रतीत होता है कि वे 'षष्ठी तत्पुरुष' मानते हैं । 'नेमधितम्' में

कर्मधारय समास है। क्तिन् प्रत्यय में भी यह कार्य देखा जाता है—वसु + √धा + क्तिन् = वसुधितिः (लोक में वसुहितिः)।

धिष्व—धा + लोट् (मध्यमपुरुषैकवचन में था स् विभक्ति) 'थासः से' सूत्र से 'से' आदेश, 'सवाभ्यां वामौ' सूत्र से एकार को वकारादेश, 'सुधित-वसुधित'—सूत्र से इकारादेश,'आदेशप्रत्यययोः' सूत्र से सकार को मूर्धन्यादेश धिष्व। लोक में 'धत्स्व'।

धिषीय—धा धातु से आशीर्लिङ् में उत्तमपुरुषैकवचन में इट् विभक्ति 'लिङः सीयुट्' सूत्र से सीयुट् का आगम, 'इटोऽत्' सूत्र से—इट् को अकार 'सुधितवसुधित'—सूत्र से इकार आदेश, सरकार को षत्व—धिषीय। लोक में 'धासीय'।

(क) अपो भि ७।४।४८—मासश्छन्दसीति वक्तव्यम् (वा०)। माद्भिः शरद्भिः।

भकारादि (भ्याम् भिस्, भ्यस्) प्रत्यय परे होने पर अप् शब्द को तकार आदेश होता है। यथा—अद्भिः। वेद में मास् शब्द के भी तकार आदेश भादि प्रत्यय के परे होने पर होता है।

माद्भिः—मास शब्द से भिस् विभक्ति होने पर "पद्दन्नोमास्"—सूत्र से मास् आदेश हुआ। 'मासश्छन्दसीति वक्तव्यम्' वार्तिक से तकार अन्तादेश होने पर 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सूत्र से पदसंज्ञा होकर 'झलां जशोन्ते' सूत्र से त् को जश् (द्) हुआ—माद्भिः।

(ख) स्ववः स्वतवसोरुषसश्चेष्यते (वा०)—स्ववद्भिः। अवतेरसुन्। शोभनमवो येषां तैः। तु इति सौत्रो धातुः। तस्मादसुन्। स्वं तवो येषां तैः स्वतवद्भिः। समुषद्भिरजायथाः (ऋ० १।६।३)। मिथुनेऽसिः (उणादिसूत्र ६६२)। वसेः किच्चेत्यसिप्रत्यय इति हरदत्तः। पञ्चपादीरीत्या तु 'उपः कित्' (उ० सू० ६७३) इति प्राग्व्याख्यातम्।

भादि प्रत्यय परे होने पर स्ववस्, स्वतवस् और उषस् शब्द के तकार अन्त्यादेश होता है। अव रक्षणे धातु से असुन् प्रत्यय होने पर अवस् प्रातिपदिक बनता है। शोभनमवो येषां तैः स्ववद्भिः—सु + अवस् + भिस् इस स्थिति में उक्त वार्तिक से तकार अन्तादेश, 'झलां जशोन्ते' से जश्त्व होकर स्ववद्भिः। √तु केवल सूत्र में पठित धातु है। इससे असुन् प्रत्यय होने पर 'तवस्' प्रातिपदिक बनता है। स्वं तवो येषां तैः स्वतवद्भिः—स्व + तवस् + भिस् इस स्थिति में उक्त वार्तिक से तकार अन्तादेश तकार को जश्त्व दकार होकर—स्वतवद्भिः। समुषद्भिः—सम् + उषस् + भिस् इस स्थिति में उक्त वार्तिक से तकार आदेश, उसे जश्त्व होकर—समुषद्भिः। अब 'समुषस्' प्रातिपदिक की व्युत्पत्ति दर्शाते हैं :—हरदत्त जी का मत है—मिथुनेऽसिः पूर्ववच्च सर्वम्। वसेः किच्च। इस उणादि सूत्र से वस् धातु से असि (अस्) प्रत्यय। उसके कित् होने के कारण 'वचिस्वपि यजादीनां किति' से सम्प्रसारण (वकार को उकार)। 'सम्प्रसारणाच्च' सूत्र से पूर्वरूप, सकार को षत्व होकर—समुषस् प्रातिपदिक बनता है। यतः 'वसेः किच्च' वर्तमान उणादि सूत्रों में नहीं मिलता है अतः हरदत्त जी का कथन स्पष्ट नहीं है। दीक्षित जी पञ्चपादी उणादि सूत्र 'उषः किच्च' का उद्धरण देकर उषस् प्रातिपदिक की व्युत्पत्ति दर्शाते हैं। 'उषः किच्च' (उ० सू० ६७३) के प्रसङ्ग में उणादि प्रकरण में 'उषस्' की व्युत्पत्ति दिखायी जा चुकी है। उसके अनुसार उष दाहे धातु से असि (अस्) प्रत्यय हुआ है। उसके कित् होने के कारण लघूपध गुण नहीं होता है।

२०७. न कवतेर्यङि ७।४।६३—कृषेश्छन्दसि ७।४।६४ यङि अभ्यासस्य चुत्वं न करीकृष्यते।

भ्वादिगणीय कुङ् शब्दे धातु से यङ् प्रत्यय होने पर उसके अभ्यास को "कुहोश्चुः" सूत्र से प्राप्त चुत्व नहीं होता है। वेद में कृष विलेखने धातु से भी यङ् प्रत्यय होने पर उसके अभ्यास को चुत्व नहीं होता है।

करीकृष्यते—√कृष् + यङ्। 'सन्यङोः' सूत्र से द्वित्व, हलादिशेष, कृ कृष् य। 'उरत्' सूत्र से अभ्यास के ऋकार को रपर अकार—कर् कृष् य

'हलादिः शेषः' से रेफ की निवृत्ति, 'रीगृदुपधस्य च' सूत्र से रीक् का आगम 'कुहोश्चुः' सूत्र से प्राप्त अभ्यास के चुत्व का 'कृषेश्छन्दसि' सूत्र से निषेध होने पर—करीकृष्य। अब 'सनाद्यन्ता धातवः' सूत्र से धातुसंज्ञा होने पर, यङ् के ङित् होने के कारण आत्मनेपद। लट् प्रथम पुरुष एकवचन में 'त' विभक्ति, 'कर्तरि शप्' से शप्, करीकृष्य अत। 'अतो गुणे' सूत्र से पररूप, 'टित आत्मनेपदानां टेरे' सूत्र से एकारभाव—करीकृष्यते। लोक में चुत्व होने से चरीकृष्यते।

२०८. दाधर्ति-दर्धर्ति-दर्धर्षि-बोभूतु-तेतिक्तेऽलर्ष्यांऽऽपनीफणत्-संसनिष्यदत्-करिक्रत्-कनिक्रत्-भरिभ्रत्-दविध्वतो दविद्युतत्-तरित्रतः सरीसृपतं-वरीवृजन्मर्मृज्याऽऽगनीगन्तीति च ७।४।६५—एतेऽष्टादश निपात्यन्ते। आद्यास्त्रयो धृङो धारयतेर्वा। भवतेर्यङ्लुगन्तस्य गुणाभावः। तेन भाषायां गुणो लभ्यते। तिजेर्यङ्लुगन्तात्तङ्। इयर्त्तेर्लटि हलादिः शेषापवादो रेफस्य लत्वम्, इत्वाभावश्च निपात्यते। अलर्षि युध्म खजकृत् पुरन्दरम्। सिपा निर्देशो न तन्त्रम्। अलर्ति दक्ष उत।

अभ्यास प्रकरण में एतत्सूत्रोक्त अठारह शब्दों की सिद्धि के लिए पाणिनि निपातन का अस्त्र अपनाते हैं। दीक्षित जी दाधर्ति आदि प्रथम तीन पदों की सिद्धि की प्रक्रिया में निर्देश देते हैं कि इसकी सिद्धि भ्वादिगणीय धृङ् अवध्वंसने (धरते) या तुदादिगणीय धृङ् अवस्थाने (ध्रियते) अथवा ण्यन्त 'धारि' (धारयति) से होती है।

(१) दाधर्ति—भ्वादिगणीय 'धृ' धातु से व्यत्यय से शप् के स्थान में 'श्लु'। 'श्लौ' से द्वित्व, 'उरत्' सूत्र से अभ्यासगत ऋकार को रपर अकार (अर्) अभ्यास को जश्, दर् धृ ति। 'हलादिः शेषः' से रेफ की निवृत्ति, निपातन से अभ्यास को दीर्घ, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से ऋकार को गुण (अर्) दाधर्ति। यहां यह भी अवधेय है कि धातु के ङित् होने से आत्मने

पद होना चाहिए था किन्तु निपातन से परस्मैपद हो गया। यदि तौदादिक 'धृ' धातु से सिद्ध करना है तो प्राप्त 'श' विकरण के स्थान पर व्यत्यय से श्लु करके शेषकार्य पूर्ववत् करना चाहिए। यदि 'धारि' (धृ + णिच्) से सिद्ध करना चाहें तो व्यत्यय से शप् के स्थान पर श्लु, णिलोप करके शेष कार्य पूर्ववत् करेंगे। लोक में धरते, ध्रियते या धारयति।

(२) दर्धर्ति—√धृङ् (भ्वादि), धृङ् (तुदादि) या 'धारि' (णिजन्त) से तिप् करने पर 'श्लु' विकरण व्यत्यय से करके शेष कार्य पूर्ववत् करेंगे—'द धर् ति' ऐसा बन जाने पर अभ्यास को दीर्घ न करके रुक् का आगम निपातन से करते हैं। यहाँ यह अवधेय है कि 'दर्धर्ति' यह रूप लोक में जहाँ यङ् लुक् में बनता है, वेद में वहाँ बिना यङ्लुक् के, सीधे-सीधे बन जाता है। निपातन का यही फल है।

(३) दर्धर्षि—इसकी सिद्धि की प्रक्रिया वही है जो 'दर्धर्ति' की है। केवल तिप् के स्थान पर मध्यम पुरुष एकवचन 'सिप्' विभक्ति लगाते हैं और उसके सकार को 'आदेशप्रत्यययोः' सूत्र से षत्व कर देते हैं। लोक में धरसे ध्रियसे अथवा धारयसि। लोक में 'दर्धर्षि' ऐसा रूप यङ् लुक् करने पर बनता है—यह भी अवधेय है।

(४) बोभूतु—भू धातु से यङ् और उसका लुक् होने पर 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' सूत्र से यङन्त ही मानकर 'सन्यङोः' सूत्र से द्वित्व, 'गुणो यङ्लुकोः' सूत्र से अभ्यास को गुण, 'अभ्यासे चर्च' सूत्र से अभ्यास के 'भ्' को जश्भाव (ब्)-बोभू। अब 'सनाद्यन्ताधातवः' सूत्र से धातुसंज्ञा होने पर लोट् प्रथमपुरुष एकवचन को तिप् विभक्ति आने पर 'कर्तरि शप्' से शप्, यङ्लुगन्त को 'अदादि' माना जाता है अतः शप् का लुक्। सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से 'भू' के ऊकार को गुण प्राप्त होता है, प्रस्तुत सूत्र द्वारा निपातन से उस गुण का निषेध हो जाता है। 'एरुः' सूत्र से 'ति' के इकार को उत्व—बोभूतु।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यह गुणनिषेध तो 'भसुवोस्तिङि' (७।३।८८) से ही हो जायगा, यहाँ गुणाभाव के निपातन की आवश्यकता ही क्या है? बात तो ठीक है, किन्तु यहाँ यह गुणाभाव का जो निपातन पाणिनि ने किया है, यही बता रहा है कि वैदिक 'बोभूतु' यङ्लुगन्त पद के अतिरिक्त

अन्यत्र (लोक और वेद में) कहीं भी यङ्लुगन्त पद में गुणनिषेध नहीं होता है, अन्यथा यह निपातन पाणिनि कभी न करते। इसी ज्ञापन का ही यह फल है कि लोक में भी गुणनिषेध न होने से 'वोभोति' और (वैकल्पिक) ईट् ('यङो वा' सूत्र से) होकर 'बोभवीति' यङ्लुगन्त पद होता है।

(५) तेतिक्ते—तिज् धातु से यङ् और उसका लुक् होने पर 'सन्यङोः' सूत्र से द्वित्व, अभ्यासकार्य 'हलादिः शेषः' से अभ्यास के जकार का लोप—तितिज्। 'गुणो यङ्लुकोः' सूत्र से अभ्यास को गुण—तेतिज्। 'सनाद्यन्ता धातवः' सूत्र से धातुसंज्ञा होने पर लट्, निपातन से आत्मनेपद की विभक्ति 'त' 'कर्तरि शप्' से शप् तथा उसका लुक्। 'त' सार्वधातुक अपित् है अत एव ङित् होने के कारण लघूपध गुण का अभाव। 'कुहोश्चुः' सूत्र से जकार को गकार 'खरि च' सूत्र से चर् (क) तेतिक्ते।

(६) अर्लर्षि—ऋ गतौ धातु से लट्, मध्यमपुरुष एकवचन की विभक्ति सिप्। श्लु विकरण तथा उसका लुक, 'श्लौ' सूत्र से द्वित्व, 'उरत्' सूत्र से अभ्यास ऋ को अर्। 'हलादिः शेषः' की प्राप्ति होने पर उसे बाधित कर निपातन से रेफ को लत्व, निपातन से 'अर्तिपिपर्त्योश्च' सूत्र द्वारा अभ्यास को प्राप्त इत्व का अभाव—अल् ऋसि। अब 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्र से ऋ को गुण–अर्, 'आदेशप्रत्यययोः' सूत्र से सकार का षत्व—अलर्षि। लोक में इयर्षि। इस उदाहरण में 'सिप्' विभक्ति का प्रयोग देखकर यह न समझना चाहिए कि केवल सिप् के प्रयोग में ही ऐसा होता है, अन्य विभक्तियों के प्रयोग में भी यह कार्य देखा जाता है। जैसे—अलर्ति। यहाँ तिप् का प्रयोग होने पर भी उक्त सभी कार्य हुए हैं।

फणतेराङ्पूर्वस्य यङ्लुगन्तस्य शतरि अभ्यासस्य नीगागमो निपात्यते। अन्त्रापनीफणत्। स्यन्देः संपूर्वस्य यङ्लुकि शतरि अभ्यासस्य निक्। धातुसकारस्य षत्वम्। करोतेर्यङ्लुगन्तस्याभ्यासस्य चुत्वाभावः। क्रन्देर्लुङि च्लेरङ् द्विर्वचनमभ्यासस्य चुत्वाभावो निगागमश्च। कनिक्रदज्जनुषम्। अक्रन्दीदित्यर्थः। विभर्तेरभ्यासस्य जश्त्वाभावः। बि भो भरिभ्रदोष-

धीषु । ध्वरतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि अभ्यासस्य निगागमो धातोर्ऋकारलोपश्च । दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य ।

(७) आपनीफणत्—आङ् (उपसर्ग) + फण् धातु से यङ्लुक्, द्वित्व 'हलादिः शेषः' से अभ्यास णकार की निवृत्ति, 'अभ्यासे चर्च' सूत्र से अभ्यास फकार का चर् (पकार) अभ्यास के नीक् का आगम लट् के शतृ आदेश, सुविभक्ति आने पर 'नाभ्यस्ताच्छतुः' सूत्र से नुम् का निषेध, 'सु' का हल्ङ्यादि लोप—आपनीफणत् । अनु + आपनीफणत् = अन्वापनीफणत् ।

(८) संसनिष्यदत्—सम् + √स्यन्द् से यङ्लुक्, द्वित्व, अभ्यासकार्य, 'हलादिः शेषः' सूत्र से अभ्यास में केवल 'स' इतना अंश बच रहना, निपातन से अभ्यास के निक् का आगम संसनिस्यन्द् । लट् आने पर उसे शतृ आदेश शतृ के अपित् सार्वधातुक होने से ङित् होने के कारण धातु के नकार का 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' सूत्र से लोप, सु विभक्ति आने पर उसका हल्ङ्यादि लोप । धातु के सकार को षत्व—संसनिष्यदत् ।

(९) करिक्रत्—कृ धातु से यङ्लुक्, द्वित्व, 'उरत्' सूत्र से अभ्यास ऋकार को अर्, 'हलादिः शेषः' से रेफ की निवृत्ति क कृ । 'कुहोश्चुः' सूत्र से प्राप्त चुत्व का निपातन से निषेध, 'ऋतश्च' सूत्र से अभ्यास के रिक् का आगम—करि कृ । लट् के आने पर उसे शतृ आदेश, यण्—करिक्रत् । सुविभक्ति आने पर उसका लोप ।

(१०) कनिक्रदत्—क्रन्द् धातु से लुङ् (तिप्) च्लि को अङ् निपातन से अडागम का अभाव, निपातन से द्वित्व, अभ्यासकार्य 'हलादिः शेषः' सूत्र से अभ्यास में केवल 'क' इतना अंश बचना, निपातन से चुत्वाभाव, निपातन से ही अभ्यास के निक् का आगम 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' से धातु के नकार का लोप—कनिक्रदत् । लोक में अक्रन्दीत् ।

(११) भरिभ्रत्—'भृ' धातु से यङ्लुक्, 'सन्यङोः' सूत्र से द्वित्व, 'उरत्' सूत्र से अभ्यास ऋकार को अर्, 'हलादिः शेषः' सूत्र से रेफ का लोप, निपातन से अभ्यास भकार का जश् नहीं हुआ, 'ऋतश्च' सूत्र से अभ्यास के रिक् का आगम—भरि, + भृ + लट् । लट् को शतृ यण् सन्धि होकर भरिभ्रत्,

तत्पश्चात् सुविभक्ति होने पर उसका लोप—भरिभ्रत्। लोक में अभ्यास भकार का जश्भाव (बकार) होने से 'बरिभ्रत्' रुक् का आगम करने पर बर्भ्रत्, रीक् का आगम करने पर 'बरीभ्रत्' रूप होगा।

(१२) दविध्वतः—प्रथमा बहुवचनान्त रूप है। √ ध्वृ+यङ्लुक्, द्वित्व, 'उरत्' सूत्र से अभ्यास ऋकार का अर्, 'हलादिः शेषः' सूत्र से अभ्यास गत वकार और रेफ का लोप—ध ध्वृ। 'अभ्यासे चर्च' सूत्र से धकार का जश्भाव (दकार) निपातन से अभ्यास को 'विक्' (वि) का आगम तथा धातु के ऋकार का लोप। अब धातुसंज्ञा होने पर लट् लकार, लट् को शतृ आदेश दविध्वत् प्रातिपादिक से जस् विभक्ति, 'नाभ्यस्ताच्छतुः' सूत्र से नुम् का निषेध, सकार का रुत्वविसर्ग होकर–दविध्वतः। लोक में न तो अभ्यास को विक् का आगम होगा और न ही धातु के ऋकार का लोप होगा, प्रत्युत अभ्यास को 'ऋतश्च' सूत्र से क्रमात् रुक्, रिक् और रीक् का आगम होगा, अतः दर्ध्वतः, दरिध्वतः, दरीध्वतः, रूप होंगे।

द्युतेरभ्यासस्य सम्प्रसारणाभावोऽत्वं विगागमश्च। दविद्यु तद्दीद्यच्छोशुचानः। तरतेः शतरि श्लौ अभ्यासस्य रिगागमः। सहोर्जा तरित्रतः। सृपेः शतरि श्लौ द्वितीयैकवचने रीगागमोऽभ्यासस्य। वृजेः शतरि श्लौ अभ्यासस्य रीक्। मृजेर्लिटि णल् अभ्यासस्य रुक्, धातोश्च युक्। गमेराङ्पूर्वस्य लटि श्लावभ्यासस्य चुत्वाभावो नीगागमश्च। वक्ष्यन्ती वेदागनीगन्ति कर्णम्।

(१३) दविद्युतत्—√द्युत्+यङ्लुक्, द्वित्व, निपातन से 'द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्' (७।४।६७) से प्राप्त अभ्याससम्प्रसारण का अभाव, 'हलादिः शेषः' से अभ्यासगत यकार और तकार का लोप–दुद्युत्। निपातन से अभ्यास उकार का अकार तथा विक् का आगम–दविद्युत्। धातुसंज्ञा होने पर लट्, उसे शतृ आदेश—दविद्युतत् प्रातिपदिक से सुविभक्ति, 'नाभ्यस्ताच्छतुः' से नुम् का अभाव, सु का लोप—दविद्युतत्।

(१४) तरित्रतः (प्रथमा बहुवचनान्त)—√तॄ + श (अत्), व्यत्यय से शप् के स्थान पर श्लु, द्वित्व, 'उरत्' सूत्र से ऋ को अर्, 'हलादिः शेषः' से रेफ का लोप, तत्तॄ अत्। निपातन से रिक् का आगम, यण् होकर तरित्रत् प्रातिपदिक से जस् विभक्ति, 'नाभ्यस्ताच्छतुः' से नुम् का निषेध, सकार को रुत्वविसर्ग—तरित्रतः। लोक में 'तरन्तः'।

(१५) सरीसृपतम्—सृप् + शतृ (अत्) व्यत्यय से श्लु विकरण, द्वित्व 'उरत्' से अभ्यास ऋकार को अर्, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास गत रेफ और पकार का लोप स सृप् अत्। निपातन से अभ्यास को रीक् का आगम—सरीसृपत् प्रातिपादिक से द्वितीयैकवचन में अम् विभक्ति, 'नाभ्यस्ताच्छतुः' से नुम् का अभाव—सरीसृपतम्। लोक में सर्पन्तम्।

(१६) वरीवृजत्—√वृज् (रुधादि) + शतृ, व्यत्यय से श्लु, द्वित्व, 'उरत्' सूत्र से अभ्यास ऋकार को अर्, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास गत रेफ और जकार का लोप—व वृज् अत्। निपातन से रीक् का आगम—वरीवृजत् प्रातिपदिक से सुविभक्ति, 'नाभ्यस्ताच्छतुः' से नुम् का अभाव, सु का हल्ङ्यादि लोप—वरीवृजत्।

(१७) मर्मृज्य—√मृज + लिट् (णल्) द्वित्व, 'उरत्' से अभ्यास ऋकार को अर् 'हलादिः शेषः' से अभ्यासगत रेफ और जकार का लोप—म मृज् अ। निपातन से अभ्यास को रुक् का आगम और धातु को युक् का आगम—मर्मृज्य। लोक में ममार्ज (मृजेर्वृद्धिः)।

(१८) आगनीगन्ति—आ + √गम् + लट् (तिप्) व्यत्यय से श्लु, द्वित्व, अभ्यास कार्य, आ ग गम् ति। 'कुहोश्चुः' सूत्र से अभ्यास के प्राप्त चुत्व का निपातन से अभाव तथा नीक् का आगम, 'मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से अनुस्वार का परसवर्ण (नकार)—आगनीगन्ति।

उक्त सूत्र में प्रयुक्त इति शब्द प्रकारवाची है अर्थात् इस प्रकार के अन्य बहुत से शब्द हैं, उनकी भी सिद्धि इसी प्रकार से करनी चाहिए।

२०९. ससूवेति निगमे ७।४।७४—सूतेर्लिटि परस्मैपदं

वुगागमोऽभ्यासस्य चात्त्वं निपात्यते। गृष्टिः ससूव स्थविरम्। (ऋ० ४।१८।१०)। सुषुवे इति भाषायाम्।

लोक में जहाँ लिट्लकार प्रथम पुरुष एकवचन में 'सुषुवे' ऐसा रूप 'षूङ् प्राणि प्रसवे' धातु से होता है वहाँ वेद में 'ससूव' ऐसा रूप होता है। इसकी भी सिद्धि निपातन से ही होती है। सू धातु को निपातन से लिट् लकार में परस्मैपद, प्रथम पुरुष एकवचन में तिप् को णल्—सू अ। द्वित्वकार्य, धातु को निपातन से वुक् का आगम तथा अभ्यास के ऊकार को ह्रस्व अकार—ससूअ। गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौः स्थविरं पुष्टं वत्सं ससूव जनयामास। नागेश जी का सुझाव है कि 'ससूव' का पाठ पूर्वसूत्र 'दाधर्ति'—में करना अधिक समीचीन होता।

२१०. बहुलं छन्दसि ७।४।७८—अभ्यासस्य इकारः स्याच्छन्दसि पूर्णां विवष्टि। वशेरेतद्रूपम्।

इति सप्तमोऽध्यायः।

श्लु होने पर वेद में अभ्यास को बहुल रूप से इकार होता है।

विवष्टि—वश् कान्तौ (अदादि गणीय) धातु से लट् (तिप्), 'व्यत्यय से लुश, द्वित्व, अभ्यास कार्य—व वश् ति। 'बहुलं छन्दसि' से अभ्यास को इकार; 'व्रश्चभ्रस्ज'—सूत्र से शकार को षकार, 'ष्टुना ष्टुः' सूत्र से तकार को टकार—विवष्टि। लोक में 'वष्टि'।

इति सप्तमोऽध्यायः



अथाष्टमोऽध्यायः

२११. प्रसमुपोदः पादपूरणे ८।१।६—एषां द्वे स्तः पादपूरणे । प्रप्रायमग्निः (ऋ० ७।८।४) संसमिद्युवसे (ऋ० १०।१९१।१) उपोप मे परा मृश । किं नोदुदु हर्षसे ।

वेद में पादपूर्ति के लिए प्र, सम्, उप, उत् की द्विरुक्ति से किसी अर्थ-विशेष का द्योतन नहीं होता है । इसका कार्य केवल पादपूर्ति है । सूत्र में यद्यपि 'छन्दसि' पद का उल्लेख नहीं है, फिर भी भाषा में इस प्रकार का प्रयोग न मिलने तथा वेद में ही इसके उदाहरण उपलब्ध होने के कारण दीक्षित जी ने इसे वैदिक प्रकरण में दिया है । 'प्र' की द्विरुक्ति का उदाहरण—प्र प्रायमग्निः । सम् की द्विरुक्ति का उदाहरण—सम् सम् इद् युवसे । उप की द्विरुक्ति का उदाहरण–उप उप मे परामृश । उत् की द्विरुक्ति का उदाहरण–किं न उत् उत् उ हर्षसे ।

२१२. छन्दसीरः ८।२।१५—इवर्णान्ताद्रेफान्ताच्च परस्य मतोर्मस्य वः स्यात् । हरिवते हर्य्यश्वाय । गीर्वान् ।

'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः (८।२।९) से मतुप् तद्धित प्रत्यय के मकार को वकार करने का जो प्रकरण चलता है उसमें इवर्णान्त और रेफान्त शब्दों के बाद आने वाले मतुप् के मकार को वकार होने का सामान्य नियम नहीं है । वेद में ही इवर्णान्त और रेफान्त शब्दों से परे मतुप् के मकार को वकार होता है । हरिवते—हरि + मत्, 'छन्दसीरः' सूत्र से म् को व्, चतुर्थ्येकवचन में हरिवते । गीर्वान्—गिर् + मत्, म् को व् । 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' से उपधा को दीर्घ—गीर्वत् + सु (प्रथमैकवचन) 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' सूत्र से नुम्—गीर्व न् त् स् । 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' सूत्र से उपधा को दीर्घ—गीर्वान् त स् । स् का हल्ङ्यादि लोप, त् का संयोगान्त लोप—गीर्वान् ।

२१३. अतो नुट् ८।२।१६—अन्नन्तान्मतोर्नुट् स्यात्। अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः (ऋ० १०।७१।७) अस्थन्वन्तं यदनस्था (ऋ० १।१६४।४)

अन् से अन्त होने वाले शब्दों से मतुप् होने पर उसे नुट् का आगम होता है। अक्षण्वन्तः—अक्षि + मतुप्, 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः', 'छन्दस्यपि दृश्यते' से अक्षि को अनङ् आदेश—अक्षन् + नुट् + मतुप्। 'मादुपधायाश्च'—से मतुप् के मकार को वकार—अक्षन् न् वत्। 'पूर्वत्रासिद्धम्' से अनङ् के प्रति नुट् के असिद्ध हो जाने से अक्षन् के नकार का लोप—अक्षन्वत्। 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' से नकार का णत्व जस् विभक्ति आने पर 'उगिदचां'—से नुम्, सकार का रुत्वविसर्ग—अक्षण्वन्तः। लोक में अक्षिमन्तः।

इसी प्रकार 'अस्थन्वन्तम्' की भी सिद्धि करनी चाहिए। यह द्वितीयैकवचनान्त है। लोक में अस्थिमन्तम्।

२१४. नाद्घस्य ८।२।१७—नान्तात्परस्य घस्य नुट्। सुपथिन्तरः।

(क) भूरिदाव्नस्तुड् वाच्यः (वा०)। भूरिदावत्तरो जनः।

(ख) ईद्रथिनः (वा०) रथीतरः। रथीतमं रथीनाम्।

वेद में नकारान्त शब्द से परे घ (तरप्, तमप् प्रत्यय 'तरप्तमपौ घः') को नुट् का आगम होता है।

सुपथिन्तरः—शोभनः पन्थाः सुपन्थाः। 'न पूजनात्' (५।४।६९) सूत्र से समासान्त प्रत्यय का निषेध। अयमनयोरतिशयेन सुपन्थाः इति सुपथिन्तरः। सुपथिन् शब्द से 'द्विवचनविभज्योपपदेतरबीयसुनौ' सूत्र से तरप्—सुपथिन्—तर—'नाद्घस्य' से तरप् के नुट् का आगम—सुपथिन् न् तर। 'न लोपः

प्रातिपदिकान्तस्य' से पथिन् के नकार का लोप, प्रथमैकवचन में सुपथिन्तरः। लोक में सुपथितरः।

(क) भूरिदावन् शब्द से घ (तरप् और तमप्) प्रत्यय के तुट् का आगम होता है।

भूरिदावत्तरः—भूरि प्रचुरं ददातीति भूरिदावा। भूरि + √दा + वनिप् (आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' ३।२।७४ से वैदिक वनिप् प्रत्यय) 'अयमनयोरतिशयेन भूरिदावा' इस विग्रह में तरप् प्रत्यय, तरप् के तुट का आगम—भूरिदावन् त् तर। यकार का लोप, विभक्ति कार्य होने पर भूरिदावत्तरः। भूरिदावा (वैदिक वनिप् प्रत्ययान्त) लोक में प्रयोज्य नहीं हैं अतः इसके समानार्थक भूरिदानी शब्द से तरप् प्रत्यय होकर लोक में 'भूरिदानितरः' का प्रयोग हो सकता है।

(ख) रथिन् शब्द को ईकार अन्तादेश होता है, यदि घ (तरप्, तमप्) परे हो।[1]

रथीतरः—रथ शब्द से 'अत इनिठनौ' से मत्वर्थीय इनि प्रत्यय। रथिन् शब्द से तरप्, 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप करने पर इकार को ईकारादेश—रथीतरः[2]। यदि ईकार आदेश को नकारलोप के अपवाद के रूप में नकार के स्थान पर करेंगे तो उसके असिद्ध हो जाने से इ और ई का दीर्घ एकादेश नहीं हो पायेगा।

२१९. नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्तसूर्तगूर्तानि छन्दसि ८।२।६१—सदेर्नञ्पूर्वान्निपूर्वाच्च निष्ठायां नत्वाभावो निपात्यते। नसत्तमञ्जसा। निषत्तमस्य चरतः। आसन्नं निषण्ण-

---

१. रथिन ईकारोऽन्तादेशो घे परे—(सुबोधिनीकार)

२. पूज्य श्री उमाशंकर शर्मा अपनी हिन्दी व्याख्या में यहां तरप् के ईत् का आगम करते हैं और उसे तरप् के आदि में बैठाते हैं परन्तु वे ऐसा किस नियम से करते हैं इसका उल्लेख नहीं करते हैं। 'रथीतमम्' (द्वितीयैकवचनान्त) की सिद्धि भी उपर्युक्त प्रकार से करनी चाहिए।

मिति प्राप्ते। उन्देर्नञ्पूर्वस्यानुत्तम्। प्रतूर्तमिति त्वरतेः; तुर्वी-त्यस्य वा। सूर्तमिति सृ इत्यस्य। गूर्त्तमिति गूरी इत्यस्य।

वेद में नसत्त, निषत्त, अनुत्त, प्रतूर्त्त, सूर्त्त और गूर्त्त इन छः क्तान्त शब्दों की सिद्धि निपातन से होती है। न सत्तम्—नम् + √सद् + क्त। 'न लोपो नञः' सूत्र से नञ् के नकार का लोप निपातान से नहीं हुआ तथा 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' सूत्र से क्त के तकार को और धातु के दकार को नकार आदेश प्राप्त था, निपातन से उसका अभाव हो गया। 'खरि च' सूत्र से दकार को चर् (तकार) हो गया। विभक्तिकार्य होने पर नपुंसक-लिंग में—नसत्तम्। लोक में नकार का लोप तथा निष्ठा के तकार और धातु के दकार को नकार होने से—असन्नम्। निषत्तम्—नि + √सद् + क्त इस स्थिति में निष्ठा तकार और धातु के दकार को 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' सूत्र से प्राप्त नत्वभाव का निपातन से अभाव हो गया। 'सदिरप्रतेः' सूत्र से 'नि' उपसर्ग से परे धातु के सकार को षकार। विभक्ति कार्य—निषत्तम्। लोक में दकार और तकार का नत्वभाव तथा णत्व होकर 'निषण्णम्' बनता है। अनुत्तम्—नञ् + √उन्द् + क्त इस स्थिति में 'न-लोपो नञः' सूत्र से नञ् के नकार का लोप, 'तस्मान्नुडचि' से नुट् का आगम, 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' सूत्र से धातु के नकार का लोप—अन् उद् त इस स्थिति में 'रदाभ्यां'—से प्राप्त नत्व का निपातन से अभाव 'खरि च' सूत्र से दकार को तकार; विभक्तिकार्य होकर—अनुत्तम्। लोक में नत्वभाव—अनुन्नम्।

प्रतूर्त्तम्—प्र + √त्वर् + क्त इस स्थिति में 'ज्वर-त्वर'—(६।४।२०) से व (अकारसमेत व) का ऊठ्—प्रसूर्त। अथवा तुर्वी (इकार इत्संज्ञक) हिंसायाम् धातु से क्त प्रत्यय करने पर 'राल्लोपः' (६।४।२१) से वकार का लोप, क्त के कित् होने से लघूपद गुणाभाव 'हलि च' से दीर्घ होकर प्रतूर्त निपातन से क्त के तकार का नत्वाभाव, 'अचो रहाभ्यां द्वे' से क्त के तकार का द्वित्व, विभक्ति कार्य—प्रतूर्त्तम्। लोक में 'क्त' के ककार को नत्व और 'रदाभ्यां नो णः समानपदे' से णत्व होकर—प्रतूर्णम्। सूर्तम्—'सृ + क्त' इस

स्थिति में निपातन से धातु के ऋकार को उत्व, 'उरण् रपरः' से उसका रपर होना, 'हलि च' से दीर्घ, निपातन से तकार का नत्वाभाव, 'अचो रहाभ्यां द्वे' सूत्र से तकार को द्वित्व, विभक्तिकार्य—सूर्त्तम्। लोक में सृतम्। गूर्त्तम्—गूरी (ईकार की इत्संज्ञा) + क्त। निपातन से तकार का नत्वाभाव, 'अचो रहाभ्यां द्वे' से त् का द्वित्व, विभक्तिकार्य—गूर्त्तम्। लोक में 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' सूत्र से क्त के तकार को नकार और उसे णत्व होकर— गूर्णम्।

२१६. अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि ८।२।७०—रुर्वा रेफो वा। अम्न एव-अम्नरेव। ऊध एव-ऊधरेव। अव एव-अवरेव।

पदान्त सकार को 'ससजुषो रुः' सूत्र से नित्य रुत्व होता है। यह एक सामान्य नियम है। किन्तु वेद में ईषदर्थक अम्नस् शब्द ऊधस् शब्द, और रक्षणार्थक अवस् शब्द के सकार को विकल्प से रुत्व होता है, पक्ष में रकार होता है।

अम्न एव—अम्नस् + एव, रुत्व 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' सूत्र से रु को य्। 'लोपः शाकल्यस्य' से यकार का लोप—अम्न एव (मतान्तर में अम्नयेवं)। जहाँ 'रु' न होकर रेफ होगा वहाँ अम्नरेव। इसी प्रकार ऊधस् + एव = ऊध एव (मतान्तर में ऊधयेव) रेफपक्ष में ऊधरेव। अवस् + एव = रुत्व होने पर अव एव (अवयेव भी), रेफपक्ष में अवरेव।

२१७. भुवश्च महाव्याहृतेः ८।२।७१—भुव इति। भुवरिति।

भूर् भुवस् और स्वर् ये तीन शब्द महाव्याहृति कहे जाते हैं। ये क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग के वाचक हैं। इनका उच्चारण 'तत्सवितुर्वरेण्य' गायत्रीमन्त्र के पूर्व किया जाता है। ये तीनों शब्द अव्यय हैं। 'भुवस्' महाव्याहृति के सकार को वेद में रुत्व अथवा रेफ दोनों होता है। भुवस् + इति, रुत्व होने पर 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' सूत्र से रु को यकार, 'लोपः

शाकल्यस्य' सूत्र से यकार का लोप—भुव इति (मतान्तर में भुवयिति) रेफ पक्ष में भुवरिति।

यह अवधेय है कि वेद में महाव्याहृति भुवस् के अतिरिक्त भी भुवस् शब्द देखा जाता है। वहाँ यह नियम नहीं लगता है क्योंकि वह महाव्याहृति तथा अव्यय भुवस् शब्द नहीं है। यथा—भुवो विश्वेषु भुवनेषु यज्ञियः। यह भुवस् तिङन्त है। वर्तमान में भू धातु से 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' से लङ् (सिप्) 'कर्तरि शप्' से शप्—भू अ स्। वेद का विषय होने से छान्दस गुणाभाव। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' अडागम का अभाव, ऊकार को उवङ् होकर—भुवस् बनता है। भुवस्+विश्वेषु—सकार को नित्य 'रु'। 'हशि च' से रु को उ। अ+उ=ओ—भुवो विश्वेषु।

२१८. ओमभ्यादाने ८।२।८७—ओम्शब्दस्य प्लुतः स्यादारम्भे। ओ३म् अग्निमीले पुरोहितम् (ऋ० १।१।१)। अभ्यादाने किम् ? ओमित्येकाक्षरम्।

२१९. ये यज्ञ कर्मणि ८।२।८८—ये३यजामहे। यज्ञेति किम् ? ये यजामहे।

अभ्यादानमारम्भः। ऋचा के आरम्भ में वर्तमान ओम् शब्द प्लुत होता है। 'अग्निमीले पुरोहितम्' ऋचा के पूर्व आरम्भ में वर्तमान ओम् प्लुत हुआ ओ३म्। यह ज्ञातव्य है कि प्लुत अच् (स्वर) होता है अतः 'ओम्' में 'ओ' को ही प्लुत हुआ समझना चाहिए।

यज्ञकर्म के प्रवर्तमान रहने पर 'ये' शब्द प्लुत होता है—ये३ यजामहे। यज्ञेति किम् ? 'यज्ञकर्म में' ऐसा क्यों कहा ? जब यज्ञ नहीं हो रहा हो; स्वाध्याय काल में इसे केवल पढ़ना भर हो तब प्लुत नहीं होगा—ये यजामहे है।

२२०. प्रणवष्टेः ८।२।८९—यज्ञकर्मणि टेरोमित्यादेशः

स्यात् । अपां रेतांसि जिन्वतो३म् (ऋ ८।४४।१६) टेः किम् ? हलन्ते अन्त्यस्य मा भूत् ।

यज्ञकार्य में वाक्य के अन्तिम शब्द के 'टि' अंश को 'ओम्' ऐसा आदेश होता है । 'अपां रेतांसि जिन्वति' में अन्तिम शब्द 'जिन्वति' के 'टि' भाग (इकार) को 'ओम्' आदेश हुआ । इस 'ओम्' को आगे आने वाले 'याज्यान्तः' सूत्र के अनुसार प्लुत पढ़ेंगे ।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' सूत्र से प्रस्तुत सूत्र में 'टेः' की अनुवृत्ति आ ही सकती है फिर सूत्र में 'टेः' ग्रहण क्यों किया गया । बात यह है कि सूत्र में टि का ग्रहण न होने पर 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र के बल से सूत्रार्थ होगा—'टेर्योऽन्त्योऽल् तस्य ओमित्येकादेशः स्यात् । यद्यपि जहाँ वाक्य का अन्तिम पद अजन्त होगा वहाँ तब भी कोई विशेष बात नहीं होगी क्योंकि अन्तिम जो अच् होगा वही 'टि' भी होगा किन्तु जहाँ अन्तिम पद हलन्त होगा (जैसे आयात्) वहाँ पूरे 'टि' (आत्) को आदेश न होकर केवल अन्तिम हल् वर्ण को ही आदेश होने लगेगा, जब कि पूरे 'टि' को आदेश होना इष्ट है, इस लिए सूत्र में 'टेः' का ग्रहण आवश्यक है ।

२२१. याज्यान्तः ८।२।९०— ये याज्या मन्त्रास्तेषामन्त्यस्य टेः प्लुतो यज्ञकर्मणि । जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहा३म् (ऋ० १०।८।६) अन्तः किम् ? याज्यानामृचां वाक्यसमुदायरूपाणां प्रतिवाक्यं टेः स्यात् । सर्वान्त्यस्य चेष्यते ।

यज्ञ के क्रम में जो याज्या काण्ड में मन्त्र पढ़े जाते हैं उन मन्त्रों के अन्तिम मन्त्र की 'टि' प्लुत होती है । जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहा३म्—यह यज्ञविशेष के क्रम में अन्तिम याज्या मन्त्र है, उसकी 'टि' को प्लुत हुआ है ।

'अन्तः' क्यों कहा गया ? यदि न कहा जाता तो वाक्य समुदाय रूप जितनी याज्य ऋचाएँ हैं उनके प्रत्येक वाक्य में 'टि' को प्लुत होने लगता जब कि सबसे अन्तिम वाक्य की 'टि' को प्लुत करना इष्ट है ।

२२२. ब्रूहिप्रेष्यश्रौषड्वौषडावहानामादेः ८।२। ९१—एषामादेः प्लुतो यज्ञकर्मणि। अग्नयेऽनुब्रू३हि। अग्नये गोमयानि प्रे३ष्य। अस्तु श्रौ३षट्। सोमस्याग्ने वीही३ वौ३षट्। अग्निमा३वह।

ब्रूहि, प्रेष्य, श्रौषट्, वौषट् और आवह इन शब्दों के आदि स्वर को प्लुत होता है। इस नियम से अग्नयेऽनुब्रू३हि में आदि स्वर 'ऊ' को प्लुत हुआ। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जानना जाहिए।

नागेश जी सूचना देते हैं कि वौषट्, वौक्षट् आदि सभी वषट्कारों का उपलक्षण है अतः सभी का आदि स्वर प्लुत होता है—ऐसा हरदत्त का मत है।

'आवह देवान् यजमान' आवह के आदि अच् को प्लुत नहीं हुआ है। नागेश जी इसका कारण वेद में सभी विधानों का वैकल्पिक होना बताते हैं।

२२३. अग्नीत् प्रेषणे परस्य च ८।२।९२—अग्नीधः प्रेषणे आदेः प्लुतः, तस्मात् परस्य च। ओ३श्रा३वय।

अग्निमिन्द्धे दीपयतीति अग्नीत् (क्विवन्त) = अग्नि प्रज्वलित करने वाला। अग्नि प्रज्वलित करने वाले व्यक्ति को निदेश देने में प्रयुक्त वाक्य का आदि स्वर प्लुत होता ही है, उसके बाद वाला स्वर भी प्लुत होता है। ओ३श्रा३वय—इस वाक्य में आदि स्वर 'ओ' को तथा उसके बाद वाले स्वर 'आ' दोनों को प्लुत हुआ है, क्योंकि यह अग्निप्रज्वलित करने वाले व्यक्ति के प्रति निदेश वाक्य है। 'ओ' सम्बोधनार्थक अव्यय है।

(लोक-भाषा में प्लुत-विधान)

२२४. विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेः ८।२।९३—प्लुतः। अकार्षीः कटम्? अकार्षं हि३। अकार्षं हि। पृष्टेति किम्? कटं करिष्यति हि। हेः किम्? कटं करोमि ननु।

किसी प्रश्न के उत्तर (प्रतिवचन) में प्रयुक्त वाक्य में यदि अन्त में 'हि' का प्रयोग हुआ रहता है तो उसके टि (अर्थात् इकार अंश) को प्लुत विकल्प से होता है। जैसे—किसी से पूछा गया क्या तुमने चटाई बनाई ? (अकार्षीः कटम् ?) उसने उत्तर में कहा—'हां बनायी' (अकार्षं हि३) इस उत्तरात्मक वाक्य में प्रयुक्त 'हि' के इकार को प्लुत हुआ है। यह नियम वैकल्पिक होने से प्लुत का विधान नहीं भी हो सकता है, तब 'अकार्षंहि'—ऐसा प्लुतरहित वाक्य होगा।

(इस प्रकार के उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि प्राचीनकाल में संस्कृत अवश्य बोल-चाल की भाषा थी।)

उक्त सूत्र में 'पृष्टप्रतिवचने' का उपादान होने से यह भी अभिव्यक्त होता है कि इस प्रकार का वाक्य जब केवल किसी तथ्य का निर्देशक होगा, प्रश्न के उत्तर रूप में प्रयुक्त नहीं रहेगा तब यह नियम लागू नहीं होगा। जैसे 'कटं करिष्यति हि'। (वह चटाई बनायेगा)। यहाँ 'हि' को प्लुत नहीं हुआ।

यह भी अवधेय है कि यदि उत्तरात्मक वाक्य हो भी किन्तु 'हि' के स्थान पर उसका समानार्थक कोई अन्य शब्द प्रयुक्त हुआ हो तो उसके प्लुत नहीं होगा। जैसे—'कटं करिष्यति ननु'। इस उत्तरात्मक वाक्य में 'हि' के स्थान में प्रयुक्त 'ननु' शब्द को प्लुत नहीं हुआ।

२२८. निगृह्यानुयोगे च ८।२।९४—अत्र यद्वाक्यं तस्य टेः प्लुतो वा। अद्यामावस्येत्याथ३ ? अमावस्येत्येवं वादिनं युक्त्या स्वमतात् प्रचाव्य एवमनुप्रत्युज्यते।

निगृह्य = वादिनं स्वमतात् प्रचाव्य—वादी को उसके अपने मत से च्युत करके। अनुयोगे = यस्मादसौ प्रच्यावितस्तस्य पक्षस्य शब्देन प्रकाशनम् अर्थात् वादी के मत का तर्क से खण्डन करके भर्त्सना के उद्देश्य से उसीकी बात को दोहराना अनुयोग कहलाता है। जैसे किसी ने कहा आज अमावस्या है। वादी की इस उक्ति का खण्डन करके उसके मत की अनुपपन्नता दिखाते हुए

प्रतिपक्षी ने कहा—(फिर भी) 'आज अमावस्या है'—ऐसा कहते हो—'अद्यामावस्येत्यात्थ३ ? यहाँ 'आत्थ' की 'टि' (अन्तिम अकार) को प्लुत विकल्प से हुआ है।

२२६. आम्रेडितं भर्त्सने ८।२।९५—दस्यो३दस्यो३-घातयिष्यामि त्वाम्। आम्रेडितग्रहणं द्विरुक्तोपलक्षणम्। चौर३-चौर३।

भर्त्सना के अर्थ में आम्रेडित की 'टि' को प्लुत होता है।

विशेष—'काशिका' में भर्त्सना का अर्थ इस प्रकार है—अपकारशब्दै-र्भयोत्पादनं भर्त्सनम् अर्थात् अपकारपरक शब्दों से धमकी देकर भय उत्पन्न करना भर्त्सन है।

वाक्य के आदि में किसी व्यक्ति के सम्बोधन पद को 'वाक्यादेरामन्त्रि-तस्या'—सूत्र से असूया, सम्मान, कोप, कुत्सन, भर्त्सन अर्थ में द्वित्व होता है और उस द्विरुक्त का दूसरा पद आम्रेडित कहा जाता है—'तस्य परमाम्रे-डितम्' (८।१।२)। प्रस्तुत सूत्र का उदाहरण है—'दस्यो३ दस्यो३घात-यिष्यामि त्वाम्'। इसमें भर्त्सन अर्थ स्पष्ट है। 'दस्यो' सम्बोधन पद का द्विर्वचन हुआ है और दूसरा पद ही आम्रेडित है, प्लुत की प्राप्ति प्रस्तुत सूत्र से उसीमें है, जब कि दोनों पदों में प्लुत अभीष्ट है। दीक्षित जी इस विषय में कहते हैं—'आम्रेडितग्रहणं द्विरुक्तोपलक्षणम्' अर्थात् सूत्रोक्त आम्रे-डित शब्द द्विरुक्त समुदाय के दोनों पदों का बोधक है अतः दस्यो३ दस्यो३ दोनों में प्लुत होता है। इसी प्रकार 'चौर३ चौर३' में भी समझना चाहिए।

यह भी अवधेय है कि 'वाक्यस्य टेः' के अधिकार में भी यहाँ वाक्य के आदि में स्थित पद की 'टि' को प्लुत होता है क्योंकि वाक्यादिस्थ पद की ही भर्त्सन अर्थ में द्विरुक्ति होती है।

२२७. अङ्गयुक्तं तिङाकाङ्क्षम् ८।२।९६—'अङ्ग' इत्य-नेन युक्तं तिङन्तं प्लवते। अङ्ग कूज३ इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म।

तिङ् किम् ? अङ्ग देवदत्त मिथ्यावदसि । आकाङ्क्षं किम् ? अङ्ग पच । नैतदपरमाकाङ्क्षति । भर्त्सन इत्येव । अङ्गाधीष्व भक्तं तव दास्यामि । तिङन्तमर्थात् आकाक्षं तिङन्तम् (आकाङ्क्षतीत्याकाङ्क्षम्, पचाद्यच्)

जो तिङन्त पद अपनी सार्थकता के लिए अन्य वाक्य या तिङन्त की आकाङ्क्षा या अपेक्षा रखता है वह आकाङ्क्ष तिङन्त कहा जाता है। सूत्र में 'अङ्ग' शब्द सम्बोधनपद है (अङ्ग इत्यनेन युक्तमङ्गयुक्तम्) जो यहाँ 'अमर्ष' का द्योतक है। सूत्रार्थ है—किसी वाक्य में भर्त्सना के अर्थ में आकाङ्क्ष तिङन्त हो तो उसकी 'टि' को प्लुत होता है। अङ्ग कूज३ ज्ञास्यसि जाल्म। अङ्ग शब्द अमर्ष का द्योतक है। कूज तिङन्त पद 'कूज अव्यक्ते शब्दे' धातु के लोट् मध्यमपुरुषैकवचन का रूप है जो आकाङ्क्ष है क्योंकि यह तिङन्त पद 'ज्ञास्यसि' तिङन्त पद की अपेक्षा रखता है (अरे चहकलो दुष्ट ! इस चहकने का फल इसी क्षण जानोगे)। कूज की 'टि' अकार को प्लुत हो गया। सूत्र में तिङ् क्यों कहा ? 'अङ्ग देवदत्त मिथ्या वदसि' यहाँ तिङन्त नहीं है उसके स्थान पर सुबन्त देवदत्त सम्बोधन पद है जो 'मिथ्या वदसि' की अपेक्षा रखता है, अङ्ग शब्द से युक्त भी है, केवल तिङन्त न होने से देवदत्त की 'टि' को प्लुत नहीं हुआ। इसी प्रकार यदि तिङन्त पद आकाङ्क्ष न हो—किसी अन्य क्रिया की अपेक्षा न रखता हो तो अङ्ग शब्द से युक्त होने पर भी उसे प्लुत नहीं होगा। जैसे—अङ्ग पच। यहाँ अङ्ग शब्द से युक्त होते हुए भी पच तिङन्त पद अकाङ्क्ष नहीं है—अन्य क्रिया की अपेक्षा नहीं रखता है, अतः उसे प्लुत नहीं हुआ। यह भी अवधेय है कि यह कार्य भर्त्सन अर्थ में ही होता है, दूसरे अर्थों में सभी सभी पुरी स्थितियों के होते हुए भी नहीं होगा। जैसे—'अङ्गाधीष्व, भक्तं ते दास्यामि' (अरे पढ़ो, तुम्हें भात दूँगा) यहाँ 'अधीष्व' तिङन्त आकाङ्क्ष और अङ्गशब्द से युक्त है, फिर भी 'भर्त्सन' के अभाव में अधीष्व को प्लुत नहीं हुआ।

२२८. विचार्यमाणानाम् ८।२।९७—वाक्यानां टेः प्लुतः। होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ। न होतव्य३मिति।

होतव्यं न होतव्यमिति विचार्यते। प्रमाणैर्वस्तुतत्त्वपरीक्षणं विचारः।

जिनमें किसी वस्तु का विचार किया जाय उन वाक्यों की 'टि' को प्लुत होता है। दीक्षित के घर पर हवन करना चाहिए। यहाँ दो पक्ष है—(१) दीक्षित के घर पर हवन करें (२) हवन नहीं करें। दोनों पक्षों के तर्क-संगत परीक्षण की स्थित में 'होतव्यं दीक्षितस्य गृहे' तथा 'न होतव्यम्' ये दोनों वाक्य विचार्यमाण हैं, अतः दोनों वाक्यों की 'टि' को प्लुत हो गया। प्रथम वाक्य के अन्त में 'ए' है उसे प्लुत होने पर उसका स्वरूप होगा—गृहा३ इ।—(एचोऽप्रगृह्यस्याददूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्याऽऽदुत्तरस्येदुतौ ८।२।१०७)। दूसरे वाक्य के अन्त में 'टि' होतव्यम् का 'अम्' अंश है, अतः उसके स्वर 'अ' को प्लुत हुआ—होतव्य३म्।

दीक्षित जी के मतानुसार विचार का लक्षण है—'प्रमाणैर्वस्तुतत्त्वपरीक्षणं विचारः'। अर्थात् वास्तविक तथ्य को जानने की चेष्टा को विचार कहते हैं। सुबोधिनीकार भी विचार का लक्षण उद्धृत कहते हैं—'कोटिद्वयस्पृग्विज्ञानं विचार इति कथ्यते।' अर्थात् विशेष ज्ञान जो दोनों कोटियों (पक्षों) का स्पर्श करता है, विचार कहलाता है।

२२९. पूर्वं तु भाषायाम् ८।२।९८—विचार्यमाणानां पूर्वमेव प्लवते। अहिर्नु३रज्जुर्नु। प्रयोगापेक्षं पूर्वत्वम्। भाषाग्रहणात् पूर्वयोगश्छन्दसीति ज्ञायते।

संस्कृत भाषा में वैदिक भाषा के विपरीत केवल पहले ही विचार्यमाण वाक्य को प्लुत होता है। जैसे दो विचार्यमाण वाक्य हैं—अहिनु, रज्जुनु। 'नु' का प्रयोग वितर्क या विचार के लिए होता है। प्रथम वाक्य 'अहिनु' की 'टि' को प्लुत हो गया—अहिर्नु३। पूर्व शब्द का अभिप्राय है—जिस वाक्य का प्रयोग पहले हो। यदि रज्जुनु, अहिनु—इस प्रकार कहेंगे तो प्रथम प्रयुक्त वाक्य 'रज्जुनु' में प्लुत होगा—रज्जुर्नु३। सूत्र में 'भाषायाम्'—ऐसा कहने से ध्वनित होता है कि पूर्व सूत्र वेद में ही प्रयुक्त होता है।

२३०. प्रतिश्रवणे च ८।२।९९—वाक्यस्य टेः प्लुतोऽभ्युपगमे, प्रतिज्ञाने श्रवणाभिमुख्ये च। गां मे देहि भोः। हन्त ते ददामि३। नित्यः शब्दो भवितुमर्हति३। दत्त किमात्थ३।

अभ्युपगम (स्वीकार करना), प्रतिज्ञान (किसी बात को प्रमाणों से सिद्ध करने के लिए उपस्थापित करना) और श्रवणाभिमुख्य (किसी बात को सुनने के लिए अभिमुख होना) में वाक्य की 'टि' को प्लुत होता है। जैसे—किसी ने प्रार्थना की—गां मे देहि भोः (श्रीमन् ! मुझे गाय दो) प्रार्थित व्यक्ति ने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया—'हन्त ते ददामि' (अच्छा देता हूँ) इस स्वीकृति वाक्य की 'टि' को प्लुत हो गया—हन्त ते ददामि३। किसी ने शब्द की नित्यता को प्रमाणों द्वारा सिद्ध करने के लिए प्रतिज्ञा वाक्य समुपस्थापित किया—'नित्यः शब्दो भवितुमर्हति३।' (शब्द नित्य है) यहाँ प्रतिज्ञान में वाक्य की 'टि' को प्लुत हो गया। दत्त किमात्थ३ (दत्त ! तुमने क्या कहा ?) इस प्रश्नात्मक वाक्य से वक्ता दत्त से वह बात सुनने के लिए अभिमुख है—ऐसा अपना आशय प्रकट करता है, अतः श्रवणाभिमुख्य में वाक्य की 'टि' को प्लुत हो गया।

२३१. अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः ८।२।१००—अनुदात्तः प्लुतः स्यात्। दूराद्धूतादिषु सिद्धस्य प्लुतस्यानुदात्तत्वमात्रमनेन विधीयते। अग्निभूत३इ। पट३उ। अग्निभूते पटो–एतयोः प्रश्नान्ते टेरनुदात्तः प्लुतः। शोभनः खल्वसि माणवक ३।

प्रश्न के अन्त में स्थित पद की 'टि' को प्राप्त स्वरितप्लुत अनुदात्त होता है तथा आदर में प्रयुक्त वाक्य की 'टि' को प्राप्त उदात्तप्लुत अनुदात्त होता है। यहाँ यह अवधेय है—'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः (८।२।८२) अधिकार सूत्र है—इसके क्षेत्र के अन्तर्गत 'दूराद्धूते च' (८।२।८४) सूत्र है। इससे सिद्ध प्लुत उदात्त होता है किन्तु प्रस्तुत सूत्र आदर अर्थ में 'दूराद्धूते

च' सूत्र से सिद्धप्लुत को अनुदात्त कर देता है। इसी प्रकार प्रश्नात्मक वाक्य में 'अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः' (८।२।१०५) सूत्र से सभी पदों की 'टि' को स्वरितप्लुत होता है। प्रस्तुत सूत्र प्रश्न के अन्तिम पद की 'टि' को प्राप्त स्वरितप्लुत को अनुदात्त मात्र कर देता है, शेष पदों में स्वरित ही रहता है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र अनुदात्तमात्र का विधान करता है, प्लुत-सिद्धि तो 'दूराद्धूते च' इत्यादि सूत्रों से ही होती है।

अगमः३ पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूत३ इ ?—इस प्रश्नात्मक वाक्य के अन्त में स्थित 'अग्निभूते' पद की 'टि' ए को अ + इ ऐसा छेद करके प्रस्तुत सूत्र से 'अ' को अनुदात्तप्लुत हुआ है। वाक्य के शेष पदों की 'टि' को 'अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः' सूत्र से स्वरितप्लुत होता हैं।

इसी प्रकार अगमः३ पूर्वा३न् ग्रामा३न् पट३ उ ? प्रश्नात्मक वाक्य के अन्त में स्थित 'पटो' पद में ओकार का 'अ + उ'—ऐसा छेद करके प्रस्तुत सूत्र से अकार को अनुदात्तप्लुत हुआ है, शेष पूर्ववत्।

शोभनः खल्वसि भाणवक३—इस वाक्य में 'टि' (ककारोत्तरवर्ती अकार) को 'दूराद्धूते च' सूत्र से प्लुत हुआ। उसे उसी विधान से उदात्त भी होना चाहिए था किन्तु प्रस्तुत सूत्र अनुदात्त कर देता है।

२३२. चिदिति चोपमार्थे प्रयुज्यमाने ८।२।१०१—वाक्यस्य टेरनुदात्तः प्लुतः। अग्निचिद्भाया३त्। अग्निरिव भायात्। उपमार्थे किम्? कथंचिदाहुः। प्रयुज्यमाने किम्? अग्निर्माणवको भायात्।

यदि किसी वाक्य में उपमा के अर्थ में 'चित्' इस अव्यय का साक्षात् प्रयोग हो तो उस वाक्य की 'टि' को अनुदात्त प्लुत होता है। यथा—अग्निचिद्भाया३ त्। यहाँ अग्निचित् का अर्थ है—अग्निरिव। अर्थात् 'चित्' अव्यय उपमा के अर्थ में साक्षात् उपयुक्त है अतः वाक्य की 'टि' (आत्) के स्वर आकार को अनुदात्त प्लुत हुआ है।

विशेष :—यह सूत्र प्लुत और अनुदात्त दोनों का विधान करता है जब कि पूर्वसूत्र अनुदात्तमात्र का विधान करता है। इस सूत्र में प्लुतसमुच्चयार्थ

ही 'च' का ग्रहण किया गया है। इसी से ज्ञात होता है कि पर्वसूत्र गुण (अनुदात्त) मात्र का विधान करता है।

उपमार्थे किम्? उपमार्थ में ऐसा क्यों कहा? इस लिए कि यदि 'चित्' शब्द का प्रयोग उपमा से भिन्न अन्य किसी अर्थ में हुआ हो तो ऐसे वाक्य की 'टि' को अनुदात्त प्लुत न हो। जैसे—'कथंचिदाहुः'। इस वाक्य में 'चित्' शब्द का प्रयोग उपमार्थ में नहीं कृच्छ्रार्थ में हुआ है अतः यहाँ वाक्य की 'टि' को न प्लुत हुआ और न अनुदात्त ही। प्रयुज्यमाने किम्? अर्थात् 'चित्' शब्द का साक्षात् प्रयोग हो—ऐसा क्यों कहा? इस लिए कि जहाँ साक्षात् प्रयोग न हो, केवल उपमार्थ में उसकी प्रतीतिमात्र हो ऐसे वाक्य की 'टि' को अनुदात्त प्लुत न हो। जैसे—अग्निर्माणवको भायात् (अग्निरिव माणवको दीप्येतेत्यर्थः) अग्नि की तरह माणवक चमके। यहाँ चित् शब्द का साक्षात् प्रयोग नहीं है, किन्तु उपमार्थक इवादि शब्दों के समान ही उपमार्थक चित् शब्द की भी प्रतीति हो रही है अतः इस वाक्य की 'टि' को न प्लुत हुआ न अनुदात्त ही। प्रश्न हो सकता है कि प्रस्तुत सूत्र में 'इति' शब्द का उपादान क्यों किया गया है। यदि 'इति' शब्द का उपादान न किया जायगा तो सूत्र का रूप होगा—'चिच्चोपमार्थे प्रयुज्यमाने'। तत्र सूत्रार्थ होगा—'उपमानेऽर्थे कस्मिंश्चिच्छब्दे प्रयुज्यमाने चिच्छब्दोऽनुदात्तः प्लुतः। अर्थात् उपमार्थ में किसी शब्द का प्रयोग होने पर 'चित्' शब्द को अनुदात्त प्लुत हो। ऐसी स्थिति में 'अग्निचिद् भाया३त्' वाक्य की 'टि' को अनुदात्त प्लुत कदापि नहीं हो सकेगा। 'इति' शब्द का प्रयोग होने से वह (इति शब्द) 'चित्' का विशेषण होता है और 'वाक्यस्य टेः' का अधिकार होने से प्लुत वाक्य की 'टि' को ही होता है तथा सूत्रार्थ निष्पन्न होता है—चिदित्येतन्निपाते उपमार्थे प्रयुज्यमाने वाक्यस्य टेरनुदात्तः प्लुतो भवति। अर्थात् 'चित्' इस निपात (अव्यय) का उपमार्थ में प्रयोग होने पर वाक्य की 'टि' को अनुदात्त प्लुत होता है। सूत्र में 'इति' शब्द की यही सार्थकता है।

२३३. उपरिस्विदासीदिति च ८।२।१०२—टेः प्लुतोऽनुदात्तः स्यात्। उपरिस्विदासी३त्। अधःस्विदासी३ दित्यत्र 'विचार्यमाणानाम्' (८।२।९७) इत्युदात्तः प्लुतः।

'उपरिस्विदासीत्' वाक्य के 'टि' को जो 'प्लुतविधान' विचार्यमाणानाम् सूत्र से होता है वह (उदात्त न होकर) अनुदात्त होता है—उपरिस्विदासी३त् । यहाँ प्लुत तो 'विचार्यमाणानाम्' सूत्र से होता है, प्रस्तुत सूत्र उदात्त की प्रवृत्ति को रोक कर अनुदात्त मात्र का विधान करता है । ऋग्वेद (१०।१२९।५) में इस वाक्य के पूर्व 'अधःस्विदासी३त्' वाक्य भी है, उसमें 'विचार्यमाणानाम्' सूत्र से प्लुत उदात्त ही होता है ।

२३४. स्वरितमाम्रेडितेऽसूयासम्मतिकोपकुत्सनेषु ८।२।१०३—स्वरितः प्लुतः स्यादाम्रेडिते परेऽसूयादौ गम्ये । असूयायाम्—अभिरूपक३ अभिरूपक रिक्तं ते आभिरूप्यम् । सम्मतौ—अभिरूपक३ अभिरूपक शोभनोऽसि । कोपे—अविनीतक३ अविनीतक इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म । कुत्सने—शाक्तीक३ शाक्तीक रिक्तः ते शक्तिः ।

असूया, आदर, कोप और कुत्सन के अर्थों में आम्रेडित के पूर्व वाला शब्द स्वरित प्लुत होता है । असूया के अर्थ में–अभिरूपक३ अभिरूपक रिक्तं ते आभिरूप्यम् (अरे सुन्दर तेरा सौन्दर्य रिक्त–व्यर्थ है) । इस वाक्य से असूया की प्रतीति हो रही है । 'वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सनेषु' (८।१।८) सूत्र से 'अभिरूपक' शब्द की द्विरुक्ति होने पर द्वितीय 'अभिरूपक' शब्द 'आम्रेडित' है (तस्य परमाम्रेडितम्) । उसके पूर्व वाले 'अभिरूपक' शब्द की 'टि' को स्वरित प्लुत हुआ है । इसी प्रकार सम्मानादि अर्थों में दिये गये उदाहरणों में भी समझना चाहिए ।

२३५. क्षियाशीःप्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम् ८।२।१०४—आकाङ्क्षस्य तिङन्तस्य टेः स्वरितः प्लुतः स्यादाचारभेदादौ । आचारभेदे–स्वयं ह रथेन याति३ उपाध्यायं पदातिं गमयति । प्रार्थनायाम्—पुत्रांश्च लप्सीष्ट३ धनं च तात । व्यापारणे–

कटं कुरु३ ग्रामं गच्छ। आकाङ्क्षं किम्? दीर्घायुरसि, अग्नीदग्नीन्विहर।

क्षिया = आचार का उल्लघन। आशीः = मंगल कामना। प्रैष = आदेश देना। आचारोल्लङ्घन (आचार भेद), मङ्गलकामना (प्रार्थना), आदेश देना (व्यापारण) इन अर्थों में एक ही वाक्य में एक तिङन्त दूसरे तिङन्त की अपेक्षा रखता हो तो पहले (आकाङ्क्ष) तिङन्त की 'टि' को स्वरित प्लुत होता है।

आचारभेद में—स्वयं ह रथेन याति३ उपाध्यायं पदातिं गमयति (स्वयं तो रथ से जाता है किन्तु उपाध्याय को पैदल भेजता है)। इस मिश्र वाक्य में आचारभेद गम्य है। प्रथम वाक्यांश का तिङन्त पद 'याति' दूसरे वाक्यांश के तिङन्त पद 'गमयति' की अपेक्षा रखता है, अतः प्रथम तिङन्त पद 'याति' की 'टि' (इकार) को स्वरित प्लुत हुआ है। आशीर्वाद में—पुत्रांश्च लप्सीष्ट३ अन्नं च तात (तात तुम पुत्र पाओ और धन भी)। इस संयुक्त वाक्य के तथम वाक्यांश में 'लप्सीष्ट' तिङन्त पद दूसरे वाक्यांश में छिपे हुए 'लप्सीष्ट' तिङन्त पद की अपेक्षा रखता है और आशीर्वाद गम्य है, अतः प्रथम लप्सीष्ट तिङन्त पद की 'टि' (अन्त्य अकार) को स्वरित प्लुत हुआ है। आदेश में-कटं कुरु३ ग्रामं गच्छ (चटाई बनाओ और गांव को जाओ)। इस संयुक्त वाक्य के प्रथम वाक्यांश का 'कुरु' तिङन्त पद द्वितीय वाक्यांश के 'गच्छ' तिङन्त पद की अपेक्षा रखता है और आदेश की भी गम्यता है अतः प्रथम तिङन्त पद 'कुरु' की 'टि' (अन्त्य उकार) को स्वरित प्लुत हुआ है। यदि आकाङ्क्ष तिङ् न हो तो स्वरित प्लुत नहीं होगा। जैसे—दीर्घायुरसि, अग्नीदग्नीन्विहर। यहाँ आकाङ्क्ष तिङ् न होने से नहीं हुआ।

२३६. अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः ८।२।१०५—अनन्त्यस्यान्त्यस्यापि टेः स्वरितः प्लुत एतयोः। अगमः३ पूर्वा३न् ग्रामा३न्? सर्वपदानामयम्। आख्याने—अगम३म् पूर्वा३न् ग्रामा३न्।

प्रश्न करने और उत्तर देने के वाक्यों के अन्तिम पद तथा जो अन्तिम न हो, तो सभी पदों की 'टि' को स्वरित प्लुत होता है।

प्रश्न करने में—अगमः३ पूर्वा३न् ग्रामा३न् (भो अग्निभूत३इ)। (हे अग्निभूते ! क्या तुम पूर्व के गाँवों में गये थे ?) यहाँ प्रत्येक पद की टि को स्वरित प्लुत हुआ है। अन्तिम पद को 'प्रश्नान्ताभिपूजितयोः' सूत्र विकल्प से अनुदात्तप्लुत भी होगा। ऐसा काशिकाकार का मत है। कहा जा सकता है कि 'प्रश्नान्ताभिपूजितयोः' सूत्र में विकल्पविधान का साक्षात् निर्देश तो नहीं है। इसका समाधान यह है—'अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः' सूत्र में अपि शब्द के बल से अन्त्य पद का भी जो स्वरितप्लुतविधान जिया गया है उससे फलितार्थ यही निकलता है कि प्रश्नान्तपद का 'प्रश्नान्ताभिपूजितयोः' से जो अनुदात्तविधान है वह वैकल्पिक है। उत्तर देने में—अगम३म् पूर्वा३न् ग्रामा३न् (हाँ मैं पूर्व के गाँवों में गवा था)। यहाँ प्रस्तुत सूत्र से वाक्य के प्रत्येक पदों की 'टि' को स्वरितप्लुत हुआ है।

२३७. प्लुतावैच इदुतौ ८।२।१०६—दूराद्धूतादिषु प्लुतो विहितः। तत्रैव ऐचः प्लुतप्रसङ्गे तदवयवाविदुतौ प्लवेते। ऐ३तिकायन। औ३पगव। चतुर्मात्रावत्र ऐचौ सम्पद्येते।

दूराद्धूते च (८।२।८४) इत्यादि कई सूत्रों में वाक्य की 'टि' को प्लुत होने का विधान किया गया है। उस प्रकरण में जहाँ ऐच् (ऐ और औ) को प्लुत होने का प्रसङ्ग आता है वहाँ उनके अवयव (एकदेश) ह्रस्व इकार और उकार को प्लुत होता है। ऐ३तिकायन—यहाँ दूर से सम्बोधन में 'गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्' सूत्र से आदि गुरुवर्ण 'ऐ' को प्लुत प्राप्त होता है किन्तु प्रस्तुत सूत्र उस 'ऐ' के 'इ' अवयव को प्लुतविधान की व्यवस्था देता है। यह ज्ञातव्य है कि 'ऐ' के उच्चारण में दो वर्ण हैं—अ इ। अब ऐ को अ + इ करके इ को प्लुत किया किन्तु लिखा 'ऐ३तिकायन'—ऐसा ही जायगा। इसी प्रकार 'औपगव' में भी और को अ + उ करके 'उ' को प्लुत करेंगे किन्तु लिखा 'औ३पगव' ही जायगा। पूछा जा सकता है कि इससे क्या लाभ हुआ। लाभ यह होता है कि ऐ और औ को प्लुत करने पर प्रत्येक की

तीन मात्राएँ होती किन्तु इ को या उ को पृथक् करके प्लुत करने से अवर्ण को एकमात्रा और इ या उ की प्लुत होने से तीन मात्राएँ इस प्रकार 'ऐ' अथवा औ की तीन के स्थान पर चार मात्राएँ होती हैं।

२३८. एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्याऽऽदुत्तरस्येदुतौ ८।२।१०७—अप्रगृह्यस्य एचोऽदूराद्धूते प्लुतविषये पूर्वस्यार्धस्याऽऽकारः प्लुतः स्यादुत्तरस्य त्वर्धस्य इदुदौ स्तः।

(क) प्रश्नान्ताभिपूजितविचार्यमाणप्रत्यभिवादयाज्यान्तेष्वेव (वा०)।

प्रश्नान्ते अगमः३पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३इ ? अभिपूजिते—भद्रं करोषि पटा३उ। विचार्यमाणे—होतव्ये दीक्षितस्य गृहा३इ, न होतव्य३मिति। प्रत्यभिवादे—आयुष्मानेधि अग्निभूता३इ। याज्यान्ते—स्तुसैर्विधेमाग्नया३इ। परिगणनं किम् ? विष्णुभूते घातयिष्यामि त्वाम्। 'अदूराद्धूते' इति न वक्तव्यम्। पदान्तग्रहणं तु कर्त्तव्यम्। इह मा भूत्—भद्रं करोषि गौरिति। 'अप्रगृह्यस्य' किम् ? शोभने माले३।

(ख). आमन्त्रिते छन्दसि प्लुतविकारोऽयं वक्तव्यः (वा०)। अग्ना३इ पत्नी वः।

दूराद्धूत को छोड़ कर प्लुत के अन्य विषयों में यदि एच् (ए ओ ऐ औ) हो और वह प्रगृह्य न हो तो प्लुत होने पर उसके भाग कर दें। पूर्व भाग में 'आ' हो और उसी को प्लुत हो तथा उत्तर भाग में क्रमशः इ उ हों।

वार्तिककार इस नियम के विषय को सीमित करते हुए कहते हैं—यह नियम केवल प्रश्नान्त, अभिपूजित, विचार्यमाण, प्रत्यभिवाद और याज्यान्त

में ही लग सकता है। (इन अर्थों में प्लुतविधान करने वाले सूत्र पहले आ चुके हैं)।

(१) प्रश्नान्त में—अगमः३पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३इ। इस प्रश्नात्मक वाक्य के अन्तिम पद 'अग्निभूते' की 'टि' एकार (एच्) को 'अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः' से अनुदात्त प्लुत होने के प्रसंग में 'ए' का 'आ + इ' ऐसा दो भाग करके 'आ' को अनुदात्त प्लुत हुआ। वाक्य के अन्य पदों में 'अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः' सूत्र से स्वरितप्लुत हुआ है।

(२) अभिपूजित में—'भद्रं करोषि पटा३उ'। यहाँ पटो की 'टि' एकार (एच्) को 'दूराद्धूते च' सूत्र से उदात्तप्लुत की प्राप्ति में 'अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः' सूत्र से उदात्त को बाधित कर 'अनुदात्तप्लुत' होने का जब प्रसंग आया तब 'ओ' का 'आ + उ' ऐसा दो भाग करके पूर्वार्द्ध 'आ' को अनुदात्तप्लुत किया गया।

(३) विचार्यमाण में होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ, न होतव्य३मिति। यहाँ दो विचार्यमाण वाक्य हैं। दोनों की 'टि' को 'विचार्यमाणानाम्' सूत्र से प्लुत (उदात्त) होता है। प्रथम वाक्य की 'टि' (ए) को प्लुत करते समय उसके 'आ + इ' ऐसा दो भाग करके 'आ' को उदात्तप्लुत किया गया है।

प्रत्यभिवादन में—आयुष्मानेधि अग्निभूता३इ। (अग्निभूते ! आयुष्मान् हो)। यह वाक्य अभिवादन के उत्तर रूप (प्रत्यभिवादन) में आया है। 'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे' से वाक्य की 'टि' (ए) को उदात्त प्लुत करते समय 'ए' के आ + इ दो भाग करके 'आ' को उदात्तप्लुत किया गया है।

याज्यान्त में—स्तोमैर्विधेमाग्नया३इ। याज्यान्त मन्त्र होने से यहाँ 'याज्यान्तः' सूत्र से वाक्य की 'टि' (आग्नेय के एकार) को प्लुत करते समय 'ए' का 'आ + इ' ऐसा भाग कर 'आ' को प्लुत किया गया है।

वार्तिक में प्रश्नान्तेत्यादि कुछ प्रसंगों की परिगणना क्यों की गयी है ? इस लिए कि उन प्रसंगों के अतिरिक्त अन्यत्र यह नियम न लगे। जैसे—'विष्णुभूते! घातयिष्यामि त्वाम्। विष्णुभूत सम्बोधन पद है। यह न तो दूराद्धूत

है और न ही प्रगृह्य। अतः 'एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते'—सूत्र के आधार पर इस पद के एकार का विभाजन (आ + इ) कर 'विष्णुभूता३इ'—ऐसा कहना चाहिए किन्तु वैसा इस लिए नहीं हुआ क्योंकि यहाँ वार्तिक में परिगणित प्रसंगों में से कोई प्रसंग नहीं है अतः एकार का न तो दो भाग हुआ और न ही प्लुत।

नियम के लिए परिगणन आवश्यक है। उसीसे 'अदूराद्धूते' की अर्थ-सिद्धि हो जाती है, अतः दीक्षित जी 'एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते'—सूत्र में 'अदूरा-द्धूते' इस अंश को व्यर्थ समझते हैं और सूत्र में 'पदान्तस्य' पद रखने का सुझाव देते हैं जिससे केवल पद के अन्त में स्थित एच् के ही दो भाग हों, अन्यथा 'भद्रं करोषि गौः' में औकार के आ + उ ऐसा भाग होने लगेगा। यह ज्ञात-व्य है कि 'गौः' में 'औ' पदान्त में नहीं है।

नागेश जी सूत्रगत 'अदूराद्धूते' के प्रत्याख्यान के पक्ष में नहीं है—परि-गणनेऽपीदं कार्यमेव। अथ दूराद्धूतपदं न सम्बोधनमात्रोपलक्षणम् किं तु यथा-श्रुतमेवेति दूरादाह्वानसम्बोधनविशिष्टाभिपूजितार्थे 'स्वागच्छ भो माणव-काग्निभूते' इत्यादौ नाऽस्य प्रवृत्तिरिति न परिगणनेन प्रत्याख्यानं युक्तम्।'

सूत्र में 'अप्रगृह्य' क्यों कहा गया? इस लिए कि प्रगृह्यसंज्ञक एच् को प्लुत होने पर उसका 'आ + इ' अथवा 'आ + उ' ऐसा भाग न हो सके। जैसे—शोभने माले३। यहाँ अभिपूजित के अर्थ में यद्यपि 'अनुदात्तं प्रश्नान्ताभि-पूजितयोः' सूत्र से अनुदात्तप्लुत हुआ है फिर भी 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञक होने से एकार का 'आ + इ' ऐसा विभाग नहीं हुआ।

यह प्लुतविकार (एच् का आ + इ' अथवा 'आ + उ'—ऐसे भाग में बँटना) वेद में सम्बोधन (आमन्त्रित) में ही होगा—ऐसा कहना चाहिए। अग्ना३इ पत्नी वः। यहाँ 'अग्ने' यह अग्नि शब्द का सम्बोधन में रूप है। 'सामन्त्रितम्' सूत्र से आमन्त्रितसंज्ञा हुई है। यहाँ 'दूराद्धूत' है अतः यद्यपि 'गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्' सूत्र से एकार को प्लुत प्राप्त है किन्तु प्लुतविकार 'आमन्त्रिते छन्दसि प्लुतविकारोऽयं वक्तव्यः' इस वार्तिक की सहायता से हुआ है—अग्ना३इ।

२३९. तयोर्य्वावचि संहितायाम् ८।२।१०८—इदु-तोर्यकारवकारौ स्तोऽचि संहितायाम्। अग्ना३याशा। पटा३वाशा। अग्ना३यिन्द्रम्। पटा३वुदकम्। अचि किम्? अग्ना३इ वरुणा। संहितायां किम्? अग्ना३इ इन्द्रः। 'संहितायाम्' इत्यध्यायसमाप्तेरधिकारः इदुतोरसिद्धत्वादयमारम्भः। सवर्णदीर्घत्वस्य शाकल्यस्य च निवृत्त्यर्थः। यवयोरसिद्धत्वात् उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य बाधनार्थो वा।

पूर्वसूत्रकृत प्लुतविकार अर्थात् एच् वर्णों के आ+इ अथवा आ+उ भाग होने पर इकार और उकार को क्रमशः य् और व् हो जाता है, यदि अच् पर में हो और संहिता का विषय हो। अग्ना३याशा—'अग्ने+आशा' यहाँ एकार को प्लुत होने से आ+इ होकर अग्ना३इ आशा। अब इकार के पर में अच् (आ) होने से संहिता में इ को य् हो गया—अग्ना३याशा। इसी प्रकार पटो+आशा = पटा३उ आशा = पटावाशा। अग्ने+इन्द्रम् = अग्ना३इइन्द्रम्—(य् होने से) अग्ना३यिन्द्रम्। पटो+उदकम् = पटा३उ उदकम्-(उ को व् होकर) पटावुदकम्।

यदि अच् वर्ण पर में नहीं हो तो यह कार्य नहीं होगा। जैसे—अग्ने+वरुणौ में प्लुत होने पर-अग्ना३इ वरुणौ। इकार से परे अच् नहीं, वकार (हल् वर्ण) होने से इ को य् नहीं हुआ। इसी प्रकार संहिता का विषय यदि न हो तो अच् परे होने पर भी इ को य् अथवा उ को व् नहीं होगा। जैसे—अग्ने+इन्द्रः = अग्ना३इ इन्द्रः, यहाँ संहिता का विषय न होने से इ के बाद अच् (इ) होने पर भी य् नहीं हुआ। 'संहितायाम्' का अधिकार इस (अष्टम) अध्याय की समाप्ति तक चलेगा।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि 'इको यणचि' (६।१।७७) सूत्र से ही 'इ' को य् और 'उ' को व् हो जायगा, अलग से इस सूत्र को देने की आवश्यकता ही क्या है? इसका उत्तर यह है—'इको यणचि' (६।१।७७) के प्रति 'एचोऽप्रगृह्य०' (८।२।१०७) सूत्र से विहित यह इत् (ह्रस्व इकार) और उत्

(ह्रस्व उकार) 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८।२।१) के अनुसार असिद्ध हो जाते हैं अर्थात् ए को आ + इ अथवा ओ को आ + उ होगा ही नहीं कि 'इको यणचि' से उनके यण् कार्य कर सकें। इसी लिए 'संहितायाम्' का आरम्भ करके यहाँ इ और उ को क्रमशः य् और व् को करने का विधान किया गया है।

अब इस उत्तर का भी प्रत्युत्तर हो सकता है—प्लुतकार्यविधायक सारे सूत्र त्रिपादी के अन्तर्गत हैं, किन्तु प्लुत को स्वरसन्धि से बचाने और उसका प्रकृतिभाव करने वाला सूत्र 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' छठे अध्याय में है। ऐसी स्थिति में 'पूर्वत्रासिद्धम्' के बल से प्लुत की असिद्धि हो जाने से ही स्वरसन्धि की प्राप्ति न होगी, प्लुत के प्रकृतिभाव का विधायक सूत्र 'प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम्' व्यर्थ हो जायगा, अतः ज्ञापक परिभाषा से यह नियम निकलता है कि प्लुत के नियम असिद्धकाण्ड में होने पर भी स्वरसन्धि के प्रति असिद्ध नहीं होते हैं। इत् और उत् (इ, उ) भी प्लुत विकार ही हैं। वे भी 'इको यणचि' (स्वरसन्धिविधायक सूत्र) के प्रति असिद्ध नहीं होंगे अतः प्रस्तुत सूत्र व्यर्थ ही है। दीक्षित जी अब प्रस्तुत सूत्र की सार्थकता के लिए दूसरी युक्ति निकालते हैं—"सवर्णदीर्घत्वस्य शाकल्यस्य च निवृत्त्यर्थः"—अर्थात् 'अग्ना३इ इन्द्रम्' तथा 'पटा३उ उदकम्' में यण् नहीं हो पायेगा, 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र से इ + इ = ई और उ + उ = ऊ हो जायगा जब कि हमें अभीष्ट है—य् और व्। इसी प्रकार 'अग्ना३इ आशा' में भी यण् न होकर 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' (६।१।१२७) सूत्र से प्रकृतिभाव हो जायगा जब कि हमें इ को य् करना अभीष्ट है, अतः इन दोनों का विवरण करने के लिए प्रस्तुत सूत्र से य् व् करने का विधान किया गया है।

'इको यणचि' के पक्षपातियों का इस पर यह कहना है—भो + इ ३ इन्द्रः' में 'भोः' छान्दस प्लुत है 'इ' निपात है अतः प्रकृतिभाव की पूरी संभावना होने पर भी यण् करके 'भोयिन्द्रः' की सिद्धि के लिए प्रकृतिभाव के अपवाद-रूप 'इकः प्लुतपूर्वस्य यणादेशो वक्तव्यः सवर्णदीर्घशाकलनिवृत्त्यर्थम्'—यह वचन आवश्यक हो जाता है। वहाँ 'इ' प्लुतविकार नहीं है कि आप प्रस्तुत सूत्र से य् करके काम चला लेंगे। अतः 'भोयिन्द्रः' की तरह यहाँ भी उसीसे काम चल जायगा प्रस्तुत सूत्र व्यर्थ ही है।

तब दीक्षित जी अन्तिम परिहार प्रस्तुत करते हैं—'यवयोरसिद्धत्वाद् उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (८।२।४) इत्यस्य बाधनार्थौ वा।' अर्थात् जब प्रस्तुत सूत्र से य् व् करते हैं तब 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (८।२।४) सूत्र जो उदात्त यण् तथा स्वरित यण् के बाद के अनुदात्त को स्वरित करने वाला है—की प्रवृत्ति नहीं हो पाती है और 'अग्ना३ याशा' में 'या' का आधार स्वरित नहीं हो पाता है, अनुदात्त ही बना रह जाता है, क्योंकि 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (८।२।४) त्रिपादी का सूत्र प्रस्तुत 'तयोर्य्वावचि संहितायाम्' (८।२।१०८) त्रिपादी से पूर्व है, अतः 'पूर्वत्रासिद्धम्' के अनुसार पूर्वशास्त्र 'उदात्तस्वरितयोर्यणः'—की प्रवृत्ति के समय प्रस्तुत सूत्र (परशास्त्र होने से) असिद्ध हो जायगा और अनुदात्त, स्वरित होने से बच जायगा। यदि यण् से काम चलाने लगेंगे तो यण् सिद्ध ही रहेगा—असिद्ध तो होगा नहीं, अतः उक्त सूत्र से यण् स्वर (स्वरित) हो ही जायगा जो इष्ट नहीं है।

काशिका में भी यही सिद्धान्त संक्षेप में किन्तु स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार दिया गया है—किन्तु यणा भवतीह न सिद्धं य्वाविदुतोर्यदयं विदधाति। तौ च मम स्वरसन्धिषु सिद्धौ शाकलदीर्घविधी तु निवर्त्यौ। इक् च यदा भवति प्लुतपूर्वस्तस्य यणं विदधात्यपवादम्। तेन तयोश्च न शाकलदीर्घौ यण्स्वरबाधनमेव तु हेतुः।

स्पष्ट है कि दीक्षित जी ने यह विवाद काशिका से ही लिया है।

२४०. मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि ८।३।१—'रु' इत्यविभक्तिको निर्देशः। मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च रुः स्यात्। 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) इति परिभाषया नकारस्य। इन्द्र मरुत्व इह पाहि सोमम् (ऋ० ३।५१।७) हरिवो मेदिनं त्वा। 'छन्दसीरः' (८।२।१५) इति वत्वम्।

वेद में सम्बोधन एकवचन (सम्बुद्धि) में मतुवन्त और क्वसुप्रत्ययान्त शब्दों को रु आदेश होता है। सूत्र में रु का निर्देश बिना विभक्ति लगाये

ही किया गया है (अन्यथा 'रु' होना चाहिए)। यह 'रु' आदेश 'अलोऽन्त्य' (१।१।५२) परिभाषासूत्र के अनुसार अन्तिम वर्ण नकार को होगा।

मरुत्व इह—मरुत् शब्द से मतुप्, 'झयः' सूत्र से म् को व्—मरुत्वत्। सु विभक्ति आने पर 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' सूत्र से नुम् का आगम, 'सु' का हल्ङ्यादि लोप, त् का संयोगान्तलोप—मरुत्वन् + इह। प्रस्तुत सूत्र से 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषासूत्र के अनुसार नकार को रु आदेश, भोभगो-अघोअपूर्वस्य योऽशि' सूत्र से 'रु' को यकारादेश 'लोपः शाकल्यस्य' सूत्र से यकार का लोप–मरुत्व इह।

हरिवो मेदिनम्—हरि + मतुप् (अनुबन्धलोप) 'छन्दसीरः' सूत्र से म् को व्—हरिवत् प्रातिपदिक से सम्बुद्धि में सुविभक्ति आने पर 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' सूत्र से नुम् का आगम, सु का लोप, तकार का संयोगान्तलोप—'हरिवन् + मेदिनम्' इस स्थिति में प्रस्तुत सूत्र से नकार को रुत्व, 'हशि च' सूत्र से रु को उ, गुण होकर—हरिवो मेदिनम्। स्पष्ट है कि अकेले सम्बुद्ध्यन्त पद का प्रयोग होने पर 'मरुत्वः' और 'हरिवः' रूप होंगे। लोक में 'मरुत्वन्' और 'हरिमन्'। क्वसुप्रत्ययान्त का उदाहरण अगले सूत्र में मिलेगा।

२४१. दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च ६।१।१२—एते क्वस्वन्ता निपात्यन्ते। मीढ्वस्तोकाय तनयाय (ऋ० २।३३।१४)।

(क) वन उपसंख्यानम् (वा०) क्वनिब्वनिपोः सामान्यग्रहणम्। अनुबन्धपरिभाषा तु नोपतिष्ठते। अनुबन्धस्येहानिर्देशात्। यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वः। इणः क्वनिप्।

लोक और वेद दोनों में समान रूप से दाश्वान् साह्वान् और मीढ्वान् पदों की सिद्धि क्वसु प्रत्यय लग कर निपातन से होती है किन्तु लोक में इनका प्रचुर प्रयोग नहीं देखा जाता है अतः वैदिकी प्रक्रिया में इनका उल्लेख किया गया।

दाश्वान्—दाशृदाने (भ्वादिगणीय) धातु से क्वसु प्रत्यय होने पर निपातन से द्वित्व और इट् दोनों का अभाव। दाश्वस् से सुविभक्ति आने पर 'अत्वसन्तस्य चाऽधातोः' सूत्र से उपधादीर्घ और 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' से नुम्, सुलोप, सकार का संयोगान्तलोप—दाश्वान्।

साह्वान्—सह धातु को निपातन से परस्मैपद मान कर क्वसु। निपातन से द्वित्व और इट् दोनों का अभाव तथा धातु की उपधा को दीर्घ—साह्वस्। पूर्ववत् विभक्ति कार्य होने पर—साह्वान्।

मीढ्वान्–'मिह सेचने' धातु से क्वसु। निपातन से द्वित्व और इट् दोनों का अभाव, ढत्व और उपधादीर्घ—मीढ्वस्। विभक्तिकार्य होने पर—मीढ्वान्।

'मीढ्वस्तोकाय तनयाय' में 'मीढ्वः' सम्बुद्धि में वैदिक प्रयोग है। मीढ्वस् से सम्बुद्धि में सु विभक्ति आने पर 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' सूत्र से नुम् सुलोप, सकार का संयोगान्तलोप—मीढ्वन्। अब वेद का विषय होने से 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' सूत्र से नकार का रुत्व, 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रेफ का विसर्ग—मीढ्वः। मीढ्वः + तोकाय = मीढ्वस्तोकाय (विसर्जनीयस्य सः)। लोक में मीढ्वन्।

'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (८।३।१) सूत्र पर वार्तिककार का वचन है—वन उपसंख्यानम्। वत् प्रत्ययान्त शब्दों को भी 'रु' आदेश होना चाहिए। वार्तिक में वन् कहने से क्वनिप् और वनिप् दोनों प्रत्ययों का सामान्य रूप से ग्रहण हुआ है। 'तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य' परिभाषा से केवल वनिप् प्रत्यय का ही ग्रहण होगा—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यहाँ (वार्तिक में) अनुबन्ध का निर्देश नहीं है अतएव उक्त परिभाषा की उपस्थिति का प्रश्न ही नहीं है। प्रातरित्वः—प्रातरेतीति प्रातरित्वा, तत्सम्बुद्धौ प्रातरित्वः—प्रातर्√इण्गतौ + क्वनिप् = प्रातर् इ + वन् कित् प्रत्यय होने से गुणाभाव, पित् प्रत्यय होने से 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' सूत्र से धातु के तुक् का आगम—प्रातरित्वन्। सम्बुद्धि विभक्ति में सु आने पर उसका लोप, 'वन उपसंख्यानम्' वार्तिक से न् को रुत्व, रु को विसर्ग—प्रातरित्वः। लोक में—प्रातरित्वन्।

२४२. उभयथर्क्षु ८।३।८—अम्परे छवि नकारस्य रुर्वा। पशूँन्तांश्चक्रे (ऋ० १०।९०।८)।

सूत्र है—'नश्छव्यप्रशान्' (८।३।७) पदान्त नकार को अम् परक छव् प्रत्याहार के वर्ण परे रहने पर नित्य रुत्व होता है। वेद में वह रुत्व विकल्प से होता है। पशून् + तान्—यहाँ 'पशून्' के नकार को रुत्व नहीं हुआ।

'पशून् + तान् + चक्रे'—यहाँ 'तान्' के नकार को रुत्व हुआ है। 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' सूत्र से रु के पूर्ववर्ती 'आ' को विकल्प से अनुनासिक। अनुनासिक के अभावपक्ष में 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' से अनुस्वार। रु को विसर्ग और विसर्ग को सकार, सकार को 'स्तोः श्चुना श्चुः' से शकार—पशून्ताँ + चक्रे, पशून्तांश्चक्रे। 'पशून्' के नकार को भी रुत्वभाव पक्ष में रुत्वादि करने पर—पशूँस्ताँश्चक्रे, पशूंस्तांश्चक्रे।

२४३. दीर्घादटि समानपादे ८।३।९—दीर्घान्नकारस्य रुर्वा स्यादटि तौ चेन्नाटौ एक पादस्थौ स्याताम्। देवाँ अच्छा सुमती। महाँ इन्द्रो य ओजसा।—उभयथेत्यनुवृत्तेर्नेह—आदित्यान् याचिषामहे।

दीर्घस्वर के बाद पदान्त नकार को विकल्प से 'रु' होता है, यदि न् के बाद अट् (स्वर ह, य, व, र्) वर्ण हो और यह नकार तथा अट् एक ही पाद में हों।

देवाँ अच्छा सुमती—'देवान् + अच्छा' में पदान्त नकार दीर्घ स्वर 'आ' के बाद है, उस नकार के बाद अट् वर्ण (अकार) है, नकार और अट् एक ही पाद में हैं अतः न् को रु हो गया। 'आतोऽटि नित्यम्' सूत्र से 'रु' के पूर्ववर्ती 'आ' को नित्य अनुनासिक। रु को 'भोभगो–से यत्व; यकार का 'लोपः शाकल्यस्य' से लोप–देवाँ अच्छा। इसी प्रकार–महान् + इन्द्रः = महाँ इन्द्रः।

'उभयथा' की अनुवृत्ति होने से कहीं न् का रुत्व नहीं भी होता है। जैसे आदित्यान् + याचिषामहे—यहाँ नकार को रुत्व होने के लिए उक्त सभी स्थितियाँ हैं फिर भी रुत्व नहीं हुआ।

२४४. आतोऽटि नित्यम् ८।३।३—अटि परतो रोः पूर्वस्यातः स्थाने नित्यमनुनासिकः । महाँ इन्द्रः । तैत्तिरीयास्तु अनुस्वारमधीयते । तत्र छान्दसो व्यत्यय इति प्राञ्चः । एवं च सूत्रस्य फलं चिन्त्यम् ।

अट् (स्वर, ह, य, व, र) परे रहने पर 'रु' के पूर्ववर्ती दीर्घ 'आ' को नित्य अनुनासिक होता है । महाँन् इन्द्रः—महान् + इन्द्रः इस स्थिति में 'दीर्घादटि समानपादे' सूत्र से न् को रुत्व, 'आतोऽटि नित्यम्' से 'आ' को नित्य अनुनासिक, 'भोभगो'—सूत्र से 'रु' को य्, 'लोपः शाकल्यस्य' सूत्र से य् का लोप—महाँ इन्द्रः । कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखाध्यायी लोग अनुस्वार पढ़ते हैं । प्राचीन आचार्य ऐसा व्यत्यय से हुआ मानते हैं । किन्तु ऐसा मानने पर 'आतोऽटि नित्यम्' सूत्र का कोई फल नहीं रह जाता है ।

२४५. स्वतवान् पायौ ८।३।११—रुर्वा । भुवस्तस्य स्वतवाँः पायुरग्ने ।

'स्वतवान्' पद के बाद पायु शब्द रहे तो न् को विकल्प से रु हो जाता है । स्वतवान् + पायुः—न् को प्रस्तुत सूत्र से रुत्व, 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' सूत्र से 'आ' को वैकल्पिक अनुनासिक (यह अवधेय है कि 'आतोऽटि नित्यम्' सूत्र से नित्य अनुनासिक की प्राप्ति नहीं है, क्योंकि 'रु' से परे अट् वर्ण नहीं है, पकार है जो अट् में नहीं आता है) । रु को विसर्ग (खरवसानयोर्विसर्जनीयः)—स्वतवाँः पायुः । अश् परे न होने से 'भोभगो'—सूत्र से 'रु' को यत्व न होगा ।

२४६. छन्दसि वाऽप्राम्रेडितयोः ८।३।४९—विसर्गस्य सो वा स्यात् कुप्वोः, प्रशब्दमाम्रेडितं च वर्जयित्वा । अग्ने त्रात ऋतस्कविः । गिरिर्न विश्वतस्पृथुः । नेह—वसुनः पूर्व्यस्पतिः । अग्नेत्यादि किम् ? अग्निः प्रविद्वान् । परुषः परुषः ।

वेद में विसर्ग के बाद कवर्ग अथवा पवर्ण होने पर विसर्ग को सकार विकल्प से होता है अर्थात् कहीं होता है कहीं नहीं होता है। किन्तु विसर्ग के बाद यदि प्रशब्द अथवा आम्रेडित रहेगा तो यह नियम नहीं लगेगा।

ऋतः + कविः --विसर्ग के बाद कवर्ग है अतः विसर्ग को स् होकर--ऋतस्कवि।

विश्वतः + पृथुः—विसर्ग के बाद पवर्ग है अतः विसर्ग को स् होकर—विश्वतस्पृथुः।

कहीं नहीं भी होता है। जैसे—वसुनः + पूर्व्यः। वसुनः पूर्व्यः।

प्रशब्द और आम्रेडित का निषेध क्यों किया ? इस लिए कि 'अग्निः + प्रविद्वान्' यहाँ विसर्ग को स् नहीं हो। 'परुषः + परुषः'—यहाँ वीप्सा में परुष शब्द की द्विरुक्ति है। बाद वाला आम्रेडित है (तस्य परमाम्रेडितम्) यहाँ विसर्ग के बाद पवर्ग होने पर भी विसर्ग का सकार न हो। वस्तुतः व्यवस्थित विकल्प से ही ऐसे स्थलों में सकार का निवारण किया जा सकता है, उक्त निषेध का फल विशेष नहीं है।

२४७. कः करत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः ८।३।५०— विसर्गस्य सः स्यात्। प्रदिवो अपस्कः। यथा नो वस्यसस्करत्। सुपेशस्करति। उरुणस्कृधि। सोमं न चारुं मघवत्सु नस्कृतम्। अनदितेरिति किम्? यथा नो अदितिः करत्।

विसर्ग के बाद यदि कः, करत्, करति, कृधि या कृत शब्द हों तो विसर्ग का सकार हो जाता है किन्तु विसर्ग के पूर्व अदिति शब्द होने पर यह नियम नहीं लगता है। उदाहरण–अपः + कः = विसर्ग को सकार होकर—अपस्कः। वस्यसः + करत्—वस्यसस्करत्। सुपेशः + करति = सुपेशस्करति। उरुणः + कृधि = उरुणस्कृधि। नः + कृतम् = नस्कृतम्।

अदिति के बाद विसर्ग रहने से यह नियम नहीं लगा—अदितिः करत्। सूत्र में कः, करत्, करति, कृधि ये चार 'कृ' धातु के तिङन्त वैदिक रूप हैं और 'कृत' क्तप्रत्ययान्त है। कः—√कृ + लुङ् (तिप्) अट् का अभाव,

'मन्त्रे घस०' सूत्र से च्लि का लुक्, धातु के ऋ को गुण—कर् त्। त् का हल्ङ्याादिलोप, रेफ का विसर्ग—कः। करत्—√कृ + लुङ् (तिप्) अडागम का अभाव (बहुलं छन्दसि), च्लि को अङ्—(कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि), गुण (ऋदृशोऽङि गुणः)—करत्। करति-'कृ + लट् (तिप्) व्यत्यय से शप्; गुण—करति। कृधि-√कृ + लोट् (सिप्) 'सि' को हि, शप् का 'बहुलं छन्दसि' से लुक्—कृहि—हि को धि (श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि)—कृधि। कृतम्—√कृ + क्त।

२४८. पञ्चम्याः परावध्यर्थे ८।३।५१—पञ्चमीविसर्गस्य सः स्यादुपरिभवार्थे परिशब्दपरतः। दिवस्परि प्रथमं जज्ञे। अध्यर्थे किम्? दिवस्पृथिव्याः पर्योजः।

पञ्चमीविभक्ति सम्बन्धी विसर्ग को सकार हो जाता है, यदि उत्पन्न होने (उपरिभव) के अर्थ में परि शब्द परे हो। दिवः + परि = दिवस्परि। यहाँ 'दिवः' पञ्चम्यन्त और 'परि' उत्पन्न होने (उपरिभव) अर्थ में है।

सूत्र में 'अधि' (उत्पन्न) के अर्थ में क्यों कहा? इस लिए कि उससे भिन्न अर्थ में 'परि' का प्रयोग होने पर विसर्ग को सकार न हो। जैसे—पृथिव्याः + परि = पृथिव्याः परि। यहाँ पञ्चमीविभक्ति सम्बन्धी विसर्ग होने पर 'परि' सर्वतोभाव अर्थ में है अतः विसर्ग को सकार नहीं हुआ।

२४९. पातौ च बहुलम् ८।३।५२—पञ्चम्या इत्येव। सूर्यो नो दिवस्पातु।

२५०. षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु ८।३।५३—वाचस्पतिं विश्वकर्माणम्। दिवस्पुत्राय सूर्याय। दिवस्पृष्ठं भन्दमानः। तमसस्पारमस्य। परिवीत इलस्पदे। दिवस्पयो दधिषाणाः। रायस्पोषं यजमानेषु।

पञ्चमी के विसर्ग को विकल्प से सकार हो, पातु पद परे रहने पर।

दिवः + पातु = दिवस्पातु । विसर्ग पञ्चमी का है और 'पातु' पद परे है, अतः विसर्ग को सकार विकल्प से हुआ है ।

षष्ठी विभक्ति के विसर्ग को सकार होता है, पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस् और पोष शब्द परे रहने पर । वाचः + पतिम् = वाचस्पतिम् । (यहाँ सर्वत्र षष्ठी तत्पुरुष समास होने पर 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' सूत्र से षष्ठी का अलुक् हुआ है । दिवः + पुत्राय = दिवस्पुत्राय । दिवः + पृष्ठम् = दिवस्पृष्ठम् । तमसः + पारम् = तमसस्पारम् । इलः + पदे = इलस्पदे । दिवः + पयः=दिवस्पयः । रायः + पोषम् = रायस्पोषम् ।

२५१. इडाया वा ८।३।५४—पतिपुत्रादिषु परेषु । इलायास्पुत्रः । इलायाः पुत्र । इलायास्पदे इलायाः पदे ।

(क) निसस्तपतावनासेवने (८।३।१०२) निसः सकारस्य मूर्धन्यः स्यात् । निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः । अनासेवने किम् ? निस्तपति । पुनः पुनस्तपतीत्यर्थः ।

पतिपुत्रादि शब्द परे रहने पर 'इडायाः' इस षष्ठयन्त के विसर्ग को विकल्प से सकार होता है । इलायाः + पुत्रः = इलायास्पुत्रः, पक्षे इलायाः पुत्रः । इलायाः + पदे = इलायास्पदे, पक्षे इलायाः पदे । आसेवन (आवृत्ति, बार-बार होना) का अर्थ होने पर निस् के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है यदि बाद में तप् धातु का प्रयोग हो । निस् + तप्तम्—निष् तप्तम्—ष्टुत्व होकर निष्टप्तम् । निस् + तप्ताः—निष् तप्ताः, ष्टुत्व होकर निष्टप्ताः । जहाँ आसेवन अर्थ होगा वहां मूर्धन्य नहीं होगा । जैसे—निस् + तपति = निस्तपति । पुनः पुनः जलाता है ।

२५२. युष्मत्तत्ततक्षुष्वन्तःपादम् ८।३।१०३—पादमध्यस्थस्य सस्य मूर्धन्यः स्यात्तकारादिष्वेषु परेषु । युष्मदादेशाः त्वं—त्वा—ते—तवाः । त्रिभिष्ट्वं देव सवितः । तेभिष्ट्वा । आभिष्टे । अप्स्वग्ने सधिष्टव । अग्निष्टद्विश्वम् । द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः । अन्तःपादं किम् ? तदग्निस्तदर्यमा । यम आत्मनो मिन्दा-

भूदग्निस्तदग्निस्तत्पुनराहार्जातवेदाविचर्षणिः । अत्राग्निरिति पूर्वपादस्यान्तो न तु मध्यः ।

पाद के मध्य में स्थित सकार को मूर्धन्य आदेश होता है, यदि उसके बाद युष्मद् शब्द का कोई तकारादि रूप, 'तत्' शब्द या 'ततक्षु' शब्द हो। यहाँ युष्मद् शब्द के तकारादि रूपों में त्वं, त्वा, ते और तव का ही ग्रहण होता है, त्वया, त्वयि आदि का नहीं। त्रिभिस् + त्वम् = त्रिभिष् त्वम्–ष्टुत्व होकर—त्रिभिष्ट्वम्। इसी प्रकार–तेभिस् + त्वा = तेभिष्ट्वा। आभिस् + ते = आभिष्टे। सधिस् + तव = सधिष्टव। अग्निस् + तत् = अग्निष्टत्। निस् + ततक्षुः = निष्टतक्षुः। ये सभी उदाहरण पाद के बीच के हैं। यदि सकार पाद के आदि अथवा अन्त में स्थित होगा तो मूर्धन्य आदेश नहीं होगा। जैसे—'तदग्निस्तदर्यमा'—इस ऋचा में 'तदग्निस्' यह पाद का अन्त है, आगे 'तदर्यमा' से दूसरा पाद प्रारम्भ हो रहा है, अतः सकार को मूर्धन्य नहीं हुआ। इसी प्रकार ऋचा के प्रथम चरण—'यन्म आत्मनो मिन्दाभूदग्निः' के अन्त में 'अग्निः' पद है और द्वितीय पाद—'तत्पुनराहार्जातवेदा विचर्षणिः' के आदि में 'तत्' पद है। विसर्ग को सकार हुआ, किन्तु यह सकार पाद के मध्य में नहीं प्रत्युत अन्त में है, अतः इसे षत्व नहीं हुआ।

२८३. यजुष्येकेषाम् ८।३।१०४—युष्मत्तत्ततक्षुषु परतः सस्य मूर्धन्यो वा। अर्चिभिष्ट्वम्। अग्निष्टे अग्रम्। अर्चिभिष्टतक्षुः। पक्षे अर्चिभिस्त्वमित्यादि।

कुछ लोगों के मत से यजुर्वेद में भी युष्मद् शब्द के तकारादि रूप, 'तत्' शब्द अथवा 'ततक्षु' शब्द परे रहने पर सकार को मूर्धन्य आदेश होता है—ऐसा कुछ लोगों का मत है, अतः वैकल्पिक है। यह ज्ञातव्य है कि ऊपर का सूत्र ऋग्वेद विषयक था और प्रस्तुत सूत्र यजुर्वेद विषयक है। अर्चिभिस् + त्वम्—सकार को मूर्धन्य (षकार) होने पर 'ष्टुना ष्टुः' सूत्र से ष्टुत्वभाव होकर तकार को टकार—अर्चिभिष्ट्वम्। मतान्तर में 'अर्चिभिस्त्वम्। इसी प्रकार-अग्निस् + ते = अग्निष्टे, अग्निस्ते। अर्चिभिस् + ततक्षुः = अर्चिभिष्टतक्षुः, अर्चिभिस्ततक्षुः।

२५४. स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि ८।३।१०५—नृभिष्टुतस्य नृभिःस्तुतस्य । गोष्टोमम्—गोस्तोमम् । 'पूर्वपदात्' (८।३।१०६) इत्येव सिद्धे प्रपञ्चार्थमिदम् ।

(प्रस्तुत सूत्र में पूर्वसूत्र से 'एकेषाम्' पद की अनुवृत्ति होने से) वेद में स्तुत और स्तोम शब्द परे रहने पर सकार को विकल्प से षकार होता है ।

नृभिस् + स्तुतस्य—भिस् के सकार को षकार, 'स्तु' के सकार का 'झलो झलि' (८।२।२६) से लोप, 'ष्टुना ष्टुः' सूत्र से तकार को टकार—नृभिष्टुतस्य, पक्षे नृभिः स्तुतस्य अथवा नृभिस्तुतस्य (खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः)। गोस् + स्तोमम्—गोस् के सकार को षकार, सकार का लोप, तकार को टकार (ष्टुना ष्टुः) गोष्टोमम्, पक्षे गोः स्तोमम् अथवा गोस्तोमम् ।

आगामी सूत्र 'पूर्वपदात्' में पूर्वं च यत्पदं तत् पूर्वपदम्—ऐसा सामान्यतः मानने से उसी सूत्र से यहाँ (वाक्य में) भी कार्य हो सकता है, प्रस्तुत सूत्र में स्तुत और स्तोम शब्द का ग्रहण प्रपञ्चार्थ है । 'छन्दसि' पद का उपादान उत्तर सूत्र में अनुवृत्ति के लिए आवश्यक है ।

२५५. पूर्वपदात् ८।३।१०६—पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य सस्य षो वा । यदिन्द्राग्नी दि॒विष्ठः । (पूर्वपदात् किम् ?) यु॒वं हि स्थः स्व॑र्पती ।

२५६. सुञः ८।३।१०७—पूर्वपदस्थान्निमित्तात् परस्य सुञो निपातस्य सस्य षः । ऊ॒र्ध्व ऊ॒षुणः ।

यदि पूर्व पद में कोई निमित्त (इण् या कवर्ग) हो तो उसके बाद में आने वाले सकार को षकार हो जाता है । दिवि + स्थः—'पूर्वपद दिवि' में निमित्त इकार है, उससे परे सकार को षकार हो गया और 'ष्टुना ष्टुः' सूत्र में ष्टुत्व होने से 'थ्' को ठ् हो गया दिविष्ठः ।

यदि पूर्वपद में निमित्त के रहते हुए भी वह पद पृथक् हो—अपना न हो

तो षत्व नहीं होगा—'हि स्थः' में पूर्वपद 'हि' में निमित्त (इ) तो है किन्तु हि 'पद' स्थः से पृथक् है—उसका अपना नहीं है अतः षत्व नहीं हुआ है।

पूर्वपद में स्थित निमित्त (इण् अथवा कवर्ग) से परे सुञ् निपात का सकार हो तो उसे षत्व हो जाता है। ऊ + सु = ऊषु। अभी + सु = अभीषु। दोनों उदाहरणों में सुप्सुपा समास हुआ है और 'उ' तथा 'इभि' को 'इकः सुञि' (६।३।१३४) से दीर्घ हुआ है। 'नः' के नकार को 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (८।४।२७) सूत्र से णत्व होकर 'णः' हो गया है।

२५७. सनोतेरनः ८।३।१०८—गोषा इन्द्रो नृषा असि। अनः किम् ? गोसनिः।

२५८. सहेः पृतनर्त्ताभ्यां च ८।३।१०९—पृतनाषाहम्। ऋताषाहम्। चात्—ऋतीषाहम्।

पूर्व पद में स्थित निमित्त (इण् अथवा कवर्ग) से परे नकाररहित सन् धातु (तनादिगणीय) का रूप हो तो सकार को षकार हो जाता है। गोषाः—गाः सनोति ददातीति गोषाः—गो + √सन् + विट् (जनसनखनक्रमगो विट्)। विट् का सर्वापहारी लोप, 'विड्वनोरनुनासिकस्याऽऽत्' से अनुनासिक नकार को 'आ' सवर्णदीर्घ—गो सा। अब 'सनोतेरनः' इस प्रस्तुत सूत्र से सकार को षकार—गोषा, विभक्तिकार्य—गोषाः। इसी प्रकार नॄन् सनोतीति 'नृषाः' की सिद्धि कर लेनी चाहिए। ऋचा में गोषा + स् + इन्द्रः = गोषा इन्द्रः—सकार को रुत्व, यत्व, यकार का लोप (लोपः शाकल्यस्य)। नृषास् + असि = नृषा असि !

अनः किम् ? सूत्र में नकाररहित √सन् का उल्लेख क्यों किया ? इस लिए कि जब नकार सहित √सन् का रूप रहेगा तब षत्व न हो। जैसे—गाः सनोतीति गोसनिः गो + √सन् + इन् (अनुबन्धलोप) = गोसनि, विभक्ति कार्य—गोसनिः। यहाँ स् को ष् नहीं हुआ। 'छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्' (३।२।२७) में गोषणिम्—ऐसा उदाहरण दिया गया है। वहाँ षकार का पाठ इस लिए है क्योंकि वैदिक सम्प्रदाय में दन्त्य स् का मूर्धन्य पाठ होता

है। ऐसा केवल संहितापाठ में होता है। पदपाठ में केवल 'गो-सनिम्' यही रूप होगा।

पृतना और ऋत शब्द के बाद √सह के सकार को षकार हो जाता है, सूत्र में चकार का उपादान होने से 'ऋति' शब्द का भी ग्रहण होता है।

पृतनाषाहम्—पृतना + √ह् + ण्वि (छन्दसि सहः)—'अत उपधायाः' सूत्र से धातु की उपधा को वृद्धि (आ) ण्वि प्रत्यय का सर्वापहारीलोप—पृतनासाह। प्रस्तुत सूत्र से षत्व, द्वितीया एकवचन की अम् विभक्ति में—पृतनाषाहम्। ऋताषाहम्—ऋत + √सह् + ण्वि = ऋताषाहम्, ऋत को दीर्घ 'अन्येषामपि दृश्यते' से। ऋतीषाहम्—ऋति + √सह् + ण्वि। (अम्विभक्ति में)—ऋतीषाहम्। 'ऋति' को 'अन्येषामपि दृश्यते' से दीर्घ हुआ है। उत्तर पद क्विप्प्रत्ययान्त न होने से 'नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ' सूत्र से दीर्घ नहीं हो सकेगा। संहिता का अधिकार होने से 'ऋतीषाहम्' ऐसा संहितापाठ का रूप होगा, पदपाठ में 'ऋति-साहम्' होता है।

'सहेः साडः सः' सूत्र √सद् के साड् रूप होने पर षत्व करता है जो केवल प्रथमा एकवचन में ही होगा अतः 'पृतनाषाट्-ड्' आदि उदाहरण उस सूत्र के हैं।

२५९. निव्यभिभ्योऽड्व्यवाये छन्दसि ८।३।११९—सस्य मूर्धन्यः। न्यषीदत्-न्यसीदत्। व्यषीदत्-व्यसीदत्। अभ्यष्टौत्-अभ्यस्तौत्।

वेद में नि, वि और अभि उपसर्ग में स्थित निमित्त (इण्) और धातु के सकार के बीच में अट् का व्यवधान होने पर सकार को विकल्प से षकार होता है। नि + असीदत् = न्यषीदत्, पक्षे न्यसीदत्। वि + असीदत् = व्यषीदत्, पक्षे व्यसीदत्। अभि + असौत् = अभ्यष्टौत् (षत्व और ष्टुत्व)। पक्षे अभ्यस्तौत्।

२६०. छन्दस्यृदवग्रहात् ८।४।२६—ऋकारान्तादवग्रहात्परस्य नस्य णः। नृमणाः। पितृयाणम्।

समस्त पद के घटक शब्दों को अलग-अलग करना 'अवग्रह' कहा जाता है। ऐसा पदपाठ में होता है। जैसे—संहितापाठ में 'पितृयाणम्' है, इसी को पदपाठ में अवग्रह (विच्छेद) करके 'पितृऽयानम्'—ऐसा पढ़ेंगे। 'ऽ' चिह्न अवग्रह बताने के लिए लगा दिया जाता है उसे खण्डाकार का चिह्न पदपाठ में नहीं समझना चाहिए।

वेद में ऋकारान्त अवग्रह से परे नकार को णत्व होता है। 'नृऽमनाः' ऐसा पदपाठ में है। संहितापाठ में णत्व होकर—नृमणाः। पदपाठ में 'पितृऽयानम्' है, संहितापाठ में णत्व होकर—पितृयाणम्।

२६१. नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः ८।४।२७—धातुस्थात्। अग्ने रक्षा णः। शिक्षा णो अस्मिन्। उरुणस्कृधि। अभीषुणः। मो षुणः।

इत्यष्टमोऽध्यायः

इति सिद्धान्तकौमुद्यां वैदिकी प्रक्रिया।



धातु में स्थित निमित्त (र्, ष्, ऋ) के बाद तथा 'उरु' या 'षु' के बाद नस् (नः) के नकार को णकार हो जाता है।

सूत्र में 'नस्' शब्द से अस्मद् शब्द के द्वितीया, चतुर्थी और षष्ठी के बहुवचन में होने वाला नस् आदेश अभिप्रेत है। यद्यपि नासिका शब्द के भी नस् आदेश होता है किन्तु उसका ग्रहण यहाँ नहीं है, क्योंकि धातुस्थनिमित्त से परे उसका मिलना सम्भव नहीं है। 'षु' सुञ् निपात का मूर्द्धन्य रूप है, सुप् विभक्ति नहीं।

१—रक्षा + नः रक्षाणः। शिक्षा + नः शिक्षाणः। 'रक्ष' और 'शिक्ष' क्रमशः रक्ष् और शिक्ष् धातु के लोट् मध्यमपुरुष एकवचन के रूप हैं, 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (६।३।१३५) सूत्र से दीर्घ हुआ।

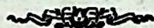
२—उरु + नस्कृधि = उरुणस्कृधि ।

३—(क) अभीषु + नः = अभीषुणः । 'इकः सुञि' से अभि को दीर्घ ।

(ख) मोषु + नः = मोषुणः ।

इति 'चन्द्रिका' टीकायामष्टमोऽध्यायः

इति सिद्धान्तकौमुद्यां वैदिकप्रक्रिया चन्द्रिकेति
हिन्दीव्याख्योपेता समाप्तिमगात् ।



परिशिष्टम्

सूत्र-सूची

लक्ष्य-सूची





egeLogin_N/upload/5420dd...c2.pdf

on B.Tech 2nd, 3rd & Final Year
(2010-11)
ance Specturm Control Chart

Name
COLLEGE, GHAZIABAD
NG & TECHNOLOGY, GHAZIABAD
NOLOGY, SULTANPUR

ategory

Name
HNOLOGY,LUCKNOW
INEERING & TECHNOLOGY, JHANSI
GORAKHPUR
LOGY INSTITUTE, KANPUR U.P
GE OF ENGINEERING & TECHNOLOGY, BAREILLY
COLLEGE OF ENGINEERING & MANAGEMENT,LUCKNOW
HNOLOGY, AUNHAN SHEOLI RAMABAI NAGAR
NG & TECHNOLOGY, MEERUT
BAGHAT ROAD, MEERUT
ECHNOLOGY , KANPUR
ZIABAD
Y & MANAGEMENT,MATHURA
ECHNOLOGY, GHAZIABAD
OGY , KANPUR
, GHAZIABAD
HAZIABAD
DUCATION,NOIDA - 201301, U.P

जिन छात्रों
कालेज चयन
कालेज से सं
कालेज में
उनकी कां
15000/- मा

जो छात्र
काउंसलिंग के
में एडमिशन
कोड 254
टेक्नालॉजी)
ऑफ इंजीनि
locking
देकर एडमिशन

B.Tec
(CS/IT/EC
M.B.A.
M.Tec
MCA
(Direct Admiss
B.Tech IInd yea